जैन विश्वभारती संस्थान

लाडनूँ – 341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

एम.ए. (उत्तरार्द्ध)

जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन

षष्ठ पत्र

अनेकान्त, नय, निक्षेप और स्याद्वाद

loxl-I	%	u; fopkj
loxl-II	%	HkknkHkknokn
loxl-III	%	lIrHkxhu;
loxl-IV	%	L;k}kn ,oa vusdkUrokn
loxl-V	%	fu{ki fopkj

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विशेषज्ञ समिति

प्रो. दयानन्द भार्गव
पूर्व विभागाध्यक्ष संस्कृत
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज.)

प्रो. अरूण मुखर्जी
पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन
जादवपुर विश्वविद्यालय
कोलकाता

प्रो. कुसुम जैन
विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

डॉ. विमला भण्डारी
पूर्व विभागाध्यक्ष दर्शन
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज.)

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय,
लाडनूं

प्रो. समणी चैतन्यप्रज्ञा
विभागाध्यक्ष, जैनविद्या विभाग
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा
विभागाध्यक्ष
प्राच्यविद्या एवं भाषा विभाग,
जैन विश्वभारती वि.वि., लाडनूं

डॉ. समणी शुभ प्रज्ञा
सहायक आचार्य
दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

लेखक दलः

प्रो. मुनि महेन्द्र कुमार
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय,
लाडनूं

डॉ. समणी स्थितप्रज्ञा
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूं

मुनिश्री चन्द्र 'कमल'
लाडनूं

साध्वी यशोधरा
साध्वी सिद्धप्रज्ञा
लाडनूं

समणी जयन्तप्रज्ञा
समणी शारदाप्रज्ञा

समणी डॉ. हिमप्रज्ञा
सहा. प्रोफेसर, जैन विश्वभारती संस्थान,

समणी चिन्मयप्रज्ञा
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूं

डॉ. अशोक कुमार जैन
सह–आचार्य, जैनविद्या
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

प्रो. जिनेन्द्र जैन
विभागाध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राकृत
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय,
उदयपुर

प्रो. जे.आर. भट्टाचार्य
विभागाध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राकृत
जैन विश्वभारती वि.वि., लाडनूं

प्रो. हरिशंकर पाण्डेय
सह–आचार्य, संस्कृत एवं प्राकृत
डॉ. सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय लाडनूं

सम्पादक मण्डल– 1. प्रो. समणी चैतन्य प्रज्ञा
विभागाध्यक्ष – जैनविद्या विभाग,
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

2. डॉ. समणी शुभप्रज्ञा
सहायक–आचार्य, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

कॉपीराइट :
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ –341306 (राजस्थान)

संस्करण : 2016

मुद्रण प्रतियां : ......

प्रकाशक :
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ –341306 (राजस्थान)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विषयानुक्रमणिका

संवर्ग	पाठ	पृष्ठ संख्या
संवर्ग -I	इकाई—1. जैन दर्शन को आचार्य सिद्धसेन का योगदान	01
	इकाई—2. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव	08
	इकाई—3. नय के दृष्टान्त	17
	इकाई—4. नय विचार	25
	इकाई—5. व्यंजन पर्याय एवं अर्थ पर्याय	34
संवर्ग -II	इकाई—6. जीव पुद्गल का भेदाभेदवाद	41
	इकाई—7. वस्तु की सामान्य विशेषात्मकता	46
	इकाई—8. उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मकता	58
संवर्ग -III	इकाई—9. अनेकान्त की व्यापकता	64
	इकाई—10. सप्तभंगी का स्वरूप एवं भेद	69
	इकाई—11. भंग सात ही क्यो?	79
संवर्ग -IV	इकाई—12. प्रमेय का स्वरूपत्व और पररूपत्व	87
	इकाई—13. स्यादद्वाद एवं अनेकान्तवाद	97
	इकाई—14. नय का उद्भव और विकास	108
संवर्ग -V	इकाई—15. निक्षेप का उद्भव, विकास और स्वरूप	122

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–1 : नय विचार

इकाई–1 : जैनदर्शन को आचार्य सिद्धसेन का योगदान

संरचना

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 मूल दो नय
1.3 सात नय
1.4 नय और निक्षेप
1.5 नय और सापेक्षता
1.6 उत्पाद व्यय और ध्रौव्य
1.7 सिद्धसेन दिवाकर का योगदान
1.8 सारांश
1.9 अभ्यास प्रश्नावली

1.0 प्रस्तावना

जैन परम्परा में **सिद्धसेन** नाम के अनेक आचार्यों का उल्लेख मिलता है। **सन्मति प्रकरण** के रचयिता सिद्धसेन के साथ 'दिवाकर' विशेषण प्राप्त होता है जो दार्शनिक जगत् में उनकी एक अलग पहचान प्रस्तुत करता है। पं. कैलाशचन्द्र ने सिद्धसेन को जैन वाङ्मय के नीलाम्बर का जाज्वल्यमान नक्षत्र कहा है। वे समन्वयवादी दार्शनिकों में अग्रणी थे।उनके द्वारा विरचित **सन्मति प्रकरण** ग्रंथ दार्शनिक जगत् में एक गौरवपूर्ण ग्रंथ रत्न माना जाता है। इसमें महावीर की अनेकान्तपरक दृष्टि को बहुलता से देखा जा सकता है। यद्यपि इस ग्रंथ में आगम सम्मत विचार सरणि का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है तथापि अनेक ऐसे तथ्य भी इस ग्रंथ में निबद्ध हैं जिन्हें दार्शनिक जगत् में **सिद्धसेन** के मौलिक अवदान के रूप में पहचाना जाता है।

अनेकान्तवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु में अनन्त विरोधी युगल एक साथ रहते हैं। एक समय में एक ही धर्म अभिव्यक्ति का विषय बनता है। प्रधान धर्म व्यक्त होता है और शेष गौण होने से अव्यक्त रह जाते हैं। वस्तु के किसी एक धर्म के सापेक्ष ग्रहण व प्रतिपादन की प्रक्रिया है—नय। सन्मति प्रकरण में नयवाद और उसके विभिन्न पक्षों का विस्तार से विचार किया गया है।

वस्तुबोध की दो महत्त्वपूर्ण दृष्टियां हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक दृष्टि वस्तु के सामान्य अंश का ग्रहण करती है जबकि पर्यायार्थिक दृष्टि वस्तु के विशेष अंगों का ग्रहण करती है। भगवती आदि प्राचीन आगमों में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों दृष्टियों का उल्लेख मिलता है। सिद्धसेन ने सन्मति प्रकरण ग्रंथ का प्रारम्भ इन्हीं दो मूल नयों से करते हुए दोनों नयों का काफी विस्तार से विवेचन किया है।

तित्थयरवयणसंगह–विसेसपत्थारमूलवागरणी।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सि ॥

1.1 उद्देश्य– इसके अध्ययन से आचार्य सिद्धसेन के बारे में जानकारी हो सकेगी।

1.2 मूल दो नय

तीर्थंकरों के वचनों की सामान्य और विशेष रूप दो राशियां हैं। इन दोनों राशियों के मूल प्रतिपादक दो नय हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। शेष इन्हीं दोनों नयों का विस्तार है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

द्रव्यार्थिक नय एवं पर्यायार्थिक नय के विषय से तथा पर्यायार्थिक नय एवं द्रव्यार्थिक नय के विषयस्पर्श से सर्वथा मुक्त नहीं होता। महासत्ता रूप द्रव्य तथा अंतिम अविभाज्य अंश रूप पर्याय के अलावा सभी पदार्थ उभयात्मक द्रव्यपर्यायात्मक होते हैं।

ये दोनों नय जब सापेक्ष रहकर प्रवृत्त होते हैं तब सुनय कहलाते हैं। संसार, बन्ध, मोक्ष, सुख, दु:ख—इन सबकी व्याख्या दोनों की सापेक्षता के आधार पर ही की जा सकती है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो के अलावा गुणार्थिक नाम का तीसरा नय नहीं है। सिद्धसेन का तर्क है—यदि द्रव्य और पर्याय से व्यतिरिक्त गुण की स्वतंत्र सत्ता होती तो भगवान् द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की तरह गुणार्थिक नय की भी प्ररूपणा करते। यद्यपि सिद्धसेन ने दो मूल नय ही स्वीकार किए हैं तथापि गुणार्थिक नय की परिकल्पना सर्वप्रथम सिद्धसेन के मस्तिष्क में ही उद्‌भूत हुई।

1.3 सात नय

दो मूल नयों के अतिरिक्त उत्तर नयों के भेद-प्रभेद के संदर्भ में भी सिद्धसेन की अपनी स्वोपज्ञ विचारणा है। जैन परम्परा में सामान्यतया सप्तनय की परम्परा प्रचलित है। ठाणं, समवाओ, भगवती, अणुओगदाराइं आदि अनेक आगमों में सात नयों का उल्लेख मिलता है। सिद्धसेन ने दार्शनिक जगत् में सर्वप्रथम षड्‌नयवाद का निरूपण किया। उनके अनुसार अभेदग्राही नैगम का संग्रह नय में और भेदग्राही नैगम का व्यवहार नय में समावेश हो जाता है अत: नय के संदर्भ में दिगम्बर व श्वेताम्बर विद्वानों ने षड्‌नय की परम्परा के औचित्य का समर्थन किया है जो निश्चय उनकी प्रभावकता का प्रतीक है।

सात नयों को संक्षेप में दो नयों में समाविष्ट किया जा सकता है। यह एक सामान्य अवधारणा है इनकी सीमा के विषय में दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। प्राचीन परम्परा के अनुसार द्रव्यार्थिक नय की सीमा ऋजुसूत्र नय तक थी। सिद्धसेन ने द्रव्यार्थिक की सीमा व्यवहार नय तक निर्धारित की। सिद्धसेन नैगम नय की स्वतंत्र सत्ता नहीं मानते। अत: उनके अनुसार संग्रह और व्यवहार ये दोनों द्रव्यार्थिक नय के भेद हैं तथा ऋजुसूत्र आदि चार नय पर्यायार्थिक नय के अवान्तर भेद हैं। यदि हम तात्पर्यार्थ की दृष्टि से विचार करें तो दोनों ही अवधारणाएं संगत प्रतीत होती हैं। आगमिक परम्परा में द्रव्य की गौणता के आधार पर तथा तार्किक परम्परा में पर्याय की प्रधानता के आधार पर विचार किया गया है। प्राचीन अवधारणा से हटकर द्रव्यार्थिक नय की सीमा व्यवहार नय पर्यन्त स्वीकृत कर ऋजुसूत्र नय से पर्यायार्थिक नय के प्रारम्भ की बात निश्चय ऋजुसूत्र नय से पर्यायार्थिक नय के प्रारम्भ की बात निश्चय ही सिद्धसेन की मौलिक शक्ति की स्फुरणा है।

वस्तुबोध की एक महत्त्वपूर्ण प्रविधि है—निक्षेप। अनुयोगद्वार में आर्यरक्षित ने निक्षेपविधि का विस्तार से प्रतिपादन किया है। वहां निक्षेप के न्यूनतम चार भेदों का निर्देश है। वे इस प्रकार हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। सिद्धसेन ने निक्षेप के चार भेदों की चर्चा करते हुए दो मूल नयों के साथ उनकी सम्बन्ध-समायोजना की है।

णामं ठवणा दविए त्ति एस दव्वट्ठियस्स निक्खेवो।
भावो उ पज्जवट्ठियस्स परूवणा एस परमत्थो॥

1.4 नय और निक्षेप

नाम, स्थापना और द्रव्य—इन तीनों में किसी-न-किसी प्रकार का अभेद अवश्य रहता है। फलत: ये तीनों द्रव्यार्थिक नय के विषय बनते हैं। पर्यायार्थिक नय में भेद की प्रधानता होने से उसका विषय बनता है—भावनिक्षेप। उत्तरवर्ती साहित्य में नय-निक्षेप सम्बन्ध योजना के विषय में काफी सूक्ष्मता से विचार हुआ है पर जब हम इसके उत्स के परिप्रेक्ष्य में विचार करते हैं तो 'सन्मति प्रकरण' ग्रंथ की महनीयता उभरकर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सामने आती है। नय के न्यूनतम दो भेद और निक्षेप के न्यूनतम चार भेद परस्पर किस तरह सम्बन्धित हैं—इसका संकेत संभवतया सर्वप्रथम सिद्धसेन ने किया है।

नय चिन्तन की एक पद्धति है। वह एक विचार है और विचार कभी सीमा में आबद्ध नहीं होते। सिद्धसेन ने स्पष्ट उद्‌घोषणा की थी—अनेकान्त अनन्त नयों का समवाय है। जितने वचनपथ हैं, उतने नय हैं, जितने नय हैं, उतने परसमय हैं, दार्शनिक मतवाद हैं।

जावइया वयणपहा तावइया चेव होंति णयवाया।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया॥

इसके अलावा सिद्धसेन ने भिन्न-भिन्न दार्शनिक मन्तव्यों की नयों के आधार पर जो व्याख्या की है वह उनकी मौलिक विचारणा और समन्वयपरक चिन्तनशैली की सूचक है। प्रत्येक विचार आंशिक रूप में यथार्थ होता है। जहां अपने विचार को एकान्ततः यथार्थ और अन्य विचारों को एकान्ततः अयथार्थ मानने की बात सामने आती है वहां हर मन्तव्य मिथ्या बन जाता है। सिद्धसेन ने अन्य दर्शनों को सापेक्षता के आधार पर सत्य बतलाया। उनके अनुसार जैन अभिमत से सांख्य दर्शन द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से सही है क्योंकि सांख्य मतानुसार आत्मा आदि सभी पदार्थ नित्य हैं। इसी तरह बौद्ध दर्शन पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से सही है क्योंकि बौद्ध मतानुसार सभी पदार्थ अनित्य हैं, क्षणक्षयी है। वैशेषिक यद्यपि नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों ही स्वीकार करते हैं पर एकान्तवाद की दोषापत्ति से वे भी मूक नहीं हैं क्योंकि वैशेषिक अभिमत से परमाणु, आत्मा आदि कुछ पदार्थ एकान्ततः नित्य हैं और घट, पट आदि कुछ पदार्थ एकान्ततः अनित्य हैं।

जैनदर्शन के अभिमत से जहां भी एकान्तिकता होती है, वहां वह विचार मिथ्या बन जाता है। जहां भी दूसरे के विचारों के खण्डन व निरसन का प्रयास किया जाता है वहां अपने अभिमत की यथार्थता भी प्रश्नचिह्न बन जाती है। सिद्धसेन ने रत्नावलि का दृष्टान्त देते हुए एकांगी अवधारणाओं को विकीर्ण रत्नों के सदृश बतलाया है। हार की मूल्यवत्ता वे ही रत्न पा सकते हैं जो अपनी स्वतंत्रता को छोड़कर सूत्रबद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार अनेकान्तवाद की मूल्यवत्ता वे ही नय (विचार) पा सकते हैं जो दूसरे नयों से सापेक्ष रहकर विचार करते हैं।

1.5 नय और सापेक्षता

जैनदर्शन की इस अनेकान्तपरक विचारणा का मूल आधार है—सापेक्षता। इस सापेक्षता के आधार पर ही एकान्तवाद का निरसन और अनेकान्तवाद का संपोषण होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ की आदि में सिद्धसेन ने अनेकान्त की आधारभित्ति के रूप में सापेक्षता की महत्ता को उजागर किया है। प्रथम गाथा में जिनशासन के संदर्भ में प्रयुक्त अनेक विशेषणों में एक विशेषण है—'कुसमयविणासणं'। इसका तात्पर्यार्थ यही है कि जिनशासन अर्थात् जिनप्रवचन एकान्तवाद रूप मिथ्या मतों का निवारक है। इसी तरह ग्रन्थ की अंतिम गाथा में भी जिनशासन के परिप्रेक्ष्य में प्रयुक्त एक विशेषण है—'मिच्छादंसणसमूहमइयस्स।' इसका अर्थ है कि जिनवचन मिथ्यादर्शनों का समूह है। उपर्युक्त सारी चर्चा का भावार्थ यह है कि जिनप्रवचन भिन्न-भिन्न एकान्तवादी दृष्टियों का समन्वित रूप है। एकान्तवादी दृष्टि में आग्रह होने से दूसरे अभिमत की अवगणना का लक्ष्य मुख्य रहता है। जैनदर्शन इन्हीं एकान्तवादी दृष्टियों को योग्य रूप में स्थापित करके उनकी उपयोगिता को उजागर कर देता है। यही अनेकान्तवाद की महत्ता है।

1.6 नय तथा उत्पाद व्यय और ध्रौव्य

अनेकान्त के आधारभूत पद तीन हैं—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। समस्त जैन तत्त्व मीमांसा का आधार होने से इसे मातृकापद भी कहा जाता है। उमास्वाति ने अस्तित्व की ये ही तीनों कसौटियां प्रस्तुत की हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सिद्धसेन ने उत्पाद, व्यय और वस्तु का स्वरूप बतलाते हुए भी उसका नयदृष्टि से जो विश्लेषण किया है वह उनकी स्वोपज्ञता का प्रतीक है। उन्होंने लिखा है—

उप्पज्जंति वियंति य भावा नियमेण पज्जवणयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पन्नमविणट्ठं॥

पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से सभी पदार्थ नियम से उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। द्रव्यास्तिक नय की दृष्टि से सभी पदार्थ उत्पत्ति और विनाश रहित अर्थात् ध्रुव हैं। एक नय वस्तु के उत्पादव्ययात्मक स्वरूप का वाचक है तो दूसरा उसके ध्रुव स्वरूप का।

1.7 सिद्धसेन दिवाकर का योगदान

सिद्धसेन दिवाकर को जैन न्याय का पिता कहा जाता है। सिद्धसेन का प्रसिद्ध ग्रंथ सन्मति तर्क प्रकरण है। सिद्धसेन ने प्रस्तुत ग्रंथ में जहां उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का नयदृष्टि से विश्लेषण किया है वहां उनके भेदाभेद सम्बन्ध का भी विमर्श किया है।

तिण्णि वि उप्पायाई अभिण्णकाला य भिण्णकाला य।
अत्थंतरं अणत्थंतरं च दवियाहि णायव्वा॥

सिद्धसेन के अनुसार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर भिन्नकालिक भी हैं और अभिन्नकालिक भी हैं। जब हम दो क्रमवर्ती पर्यायों की दृष्टि से विचार करते हैं तो तीनों की अभिन्नकालिकता सिद्ध होती है। किसी एक पर्याय का उत्पादकाल ही किसी अन्य पर्याय का विनाशकाल अथवा ध्रौव्यकाल हो सकता है। किन्तु जब हम एक ही पर्याय की अपेक्षा विचार करते हैं तो उत्पाद आदि का काल भिन्न हो जाता है। एक ही पर्याय के उत्पाद व नाश का काल कभी समान नहीं हो सकता। वह नियमतः भिन्न ही होगा। निष्कर्षतः कहना होगा कि भिन्नता और अभिन्नता सापेक्ष है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की संयुक्तावस्था सत् है और वही द्रव्य है। उमास्वाति ने द्रव्य की परिभाषा में जहां उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की चर्चा की है वहां गुण और पर्याय का भी उल्लेख किया है। उमास्वाति ने द्रव्य की एक परिभाषा **"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, यत् सत् तत् द्रव्यम्"** दी है। तो दूसरी परिभाषा 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' भी दी है। सिद्धसेन ने द्रव्य के संदर्भ में पर्याय की ही चर्चा की है गुण की नहीं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—किसी भी द्रव्य में जितने त्रिकालवर्ती व्यंजनपर्याय और अर्थपर्याय होते हैं वह द्रव्य उतना ही होता है। सिद्धसेन के अभिमत से गुण और पर्याय दोनों वस्तुतः एक ही हैं। यदि पर्याय से भिन्न गुण की स्वतंत्र सत्ता होती तो आगमग्रंथों में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक की भांति गुणार्थिक नय का भी उल्लेख प्राप्त होता। ऐसा कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता अतः गुण और पर्याय को अभिन्न मानना ही युक्तिसंगत है। ग्रंथकार की इस युक्ति का प्रभाव उत्तरवर्ती दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही विचारकों पर देखा जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रंथ में सिद्धसेन दिवाकर ने न्याय दर्शन और वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत द्रव्य और गुण के एकान्त भेदसम्बन्ध को पूर्वपक्ष के रूप में स्थापित कर उसका विस्तार से विचार किया है। लक्षण की भिन्नता और ग्राहक प्रमाण की भिन्नता के आधार पर वैशेषिकों ने दोनों को सर्वथा भिन्न माना है। वैशेषिकों के विपरीत सांख्य, वेदान्ती आदि अभेदवादी दार्शनिकों ने दोनों को सर्वथा सामान्य व अभिन्न माना है। अभेदवादी मतानुसार यदि विशेषों में विशेषत्व माना जाए तो वही वस्तुतः सामान्य है और सामान्य ही यथार्थ है। सिद्धसेन ने भेदवादी और अभेदवादी दोनों अवधारणाओं का उल्लेख करते हुए गुण और पर्याय को अभिन्नार्थक माना है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रत्येक द्रव्य अनन्तानन्त पर्यायों का समवाय है। अनन्त धर्मों की अखण्ड सत्ता का ही अपर नाम है—द्रव्य। द्रव्य के उत्पाद और विनाश को क्रमशः सृष्टि और संहार का सिद्धान्त भी कहा जा सकता है। द्रव्योत्पत्ति और द्रव्य नाश की प्रक्रिया के संदर्भ में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मन्तव्य है। सांख्यदर्शन परिणामवादी है। परिणामवाद के अनुसार कारण ही कार्य में परिणत होता है। प्रकृति से पंचमहाभूत पर्यन्त क्रमशः कारण की कार्य में परिणति ही सृष्टि के निर्माण में हेतुभूत बनती है। सृष्टि के निर्माण में सत्त्व आदि गुणों की विषमता निमित्त बनती है और सृष्टि संहार में गुणत्रय की साम्यावस्था। बौद्ध परम्परा में द्रव्य का अर्थ है—सूक्ष्म अवयवों का समूह। सिद्धसेन ने मुख्यतया वैशेषिक दर्शन द्वारा स्वीकृत द्रव्योत्पत्ति की प्रक्रिया के संदर्भ में ही विचार किया है। वैशेषिकों के अनुसार द्रव्योत्पत्ति का आधार संघात ही बनता है। जबकि जैनदर्शन में संघात व भेद दोनों मान्य हैं। सिद्धसेन के अनुसार जो वादी सिर्फ द्रव्यान्तर के संयोग से ही नवीन द्रव्य की उत्पत्ति मानते हैं। वे मूलतः उत्पाद के स्वरूप से ही अनभिज्ञ हैं।

जिस तरह दो परमाणुओं के योग से द्वयणुक और अनेक द्वयणुकों के योग से त्रयणुक की उत्पत्ति होती है उसी तरह त्रयणुक के विभाग से द्वयणुक और द्वयणुक के विभाग से परमाणु रूप कार्य द्रव्य की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सिद्धसेन दिवाकर ने द्रव्य के स्वरूप, द्रव्य, गुण और पर्याय की पारस्परिक सम्बन्ध-योजना, गुण और पर्याय की एकार्थकता, द्रव्य और पर्याय का भेदाभेद सम्बन्ध, द्रव्योत्पत्ति की प्रक्रिया आदि अनेक पहलुओं पर प्रकाश डाला है। उन्होंने दार्शनिक परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में विचार करते हुए जैन परम्परा में स्वीकृत मन्तव्यों को जिन व्यापक संदर्भों में प्रस्तुत किया है, वह उनकी बहुश्रुतग्राही मेधा का परिचायक है।

सिद्धसेन की व्यापक दृष्टि और आग्रहमुक्त विचारधारा ने दर्शन के जगत् में समन्वय का स्वर मुखर किया। उनसे पूर्व निरसन का ही प्रचलन था। सिद्धसेन ने विरोध में भी अविरोध देखा। निरसन व खण्डन-मण्डन की परम्परा को समन्वय का रूप प्रदान किया। यही कारण था सिद्धसेन का नाम अनेकान्त के प्रतिष्ठापक आचार्यों की अग्रिम पंक्ति में लिया जाने लगा।

अनेकान्तवाद के विचारक्षेत्र में भेद और अभेद दोनों का सापेक्ष महत्त्व है। सिद्धसेन ने प्रस्तुत ग्रंथ में अनेक विरोधी प्रतीत होने वाले मतवादों में समन्वय स्थापित किया है। कार्य और कारण दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं अतः दोनों भिन्नाभिन्न हैं। बौद्ध और वैशेषिक मत में उत्पत्ति से पूर्व कार्य सर्वथा अविद्यमान होता है अतः कार्य और कारण एकान्ततः भिन्न हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार कार्य सदैव कारण में विद्यमान रहता है अतः दोनों अभिन्न हैं। जैन मतानुसार शक्ति की अपेक्षा कार्य कारण में सत् रहता है, उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति की अपेक्षा वह असत् रहता है। निष्कर्षतः दोनों भिन्नाभिन्न उभयात्मक हैं।

हेतुवाद और अहेतुवाद दार्शनिक जगत् के दो महत्त्वपूर्ण वाद हैं। हेतुवादी प्रमाण के लिए हेतु अथवा युक्ति को अपरिहार्य मानते हैं जबकि अहेतुवादी आगमवचन को ही मूर्धन्य मानते हैं। उनके अनुसार आगमरूपी हिमालय के समक्ष तर्क अकिञ्चित्कर-सा बन जाता है। सिद्धसेन ने उक्त दोनों ही अवधारणाओं के विरोध का समाधान अनेकान्त के आधार पर किया। उन्होंने कहा—हमारे शास्त्रों में कुछ तथ्य ऐसे हैं जिन्हें तर्कबल से समझा जा सकता है पर सबकुछ तर्क से समझा जा सके यह कठिन है। ऐसे भी अनेकों तथ्य हैं जिनकी अवगति न प्रत्यक्ष से होती है और न अनुमान से। वहां हमारी अवगति का आलम्बन बनती है—आप्तवाणी-आगमवचन के प्रति श्रद्धा। अतः हेतु और अहेतु (श्रद्धा) दोनों का सापेक्ष महत्त्व है।

इस दृश्यमान सृष्टि का कारण क्या है? यह एक महत्त्वपूर्ण और विचारणीय पहलू है। सिद्धसेन ने प्रस्तुत ग्रंथ में कारण विषयक चर्चा के परिप्रेक्ष्य में कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, कर्मवाद, पुरुषार्थवाद,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ईश्वरवाद आदि अनेक वादों का प्ररूपण करते हुए इनके समन्वयात्म रूप को उजागर किया है। अनेकान्तवाद किसी भी कार्य की निष्पत्ति के लिए पांचों के समवाय पर बल देता है।

इसी तरह ज्ञानवाद और क्रियावाद दोनों दो भिन्न अवधारणाएं हैं। ज्ञानवादी जहां एकान्ततः ज्ञान की महत्ता स्वीकृत कर क्रिया का अपलाप करते हैं वहां क्रियावादी केवल क्रिया को ही सर्वेसर्वा मानते हैं। मोक्ष रूपी फल की संप्राप्ति में ज्ञानशून्य क्रिया वैसे ही अकार्यकारी है जैसे क्रियाशून्य ज्ञान।

उपर्युक्त मतवादों के अतिरिक्त जीव और पुद्‌गल का सम्बन्ध, अस्तित्व-नास्तित्व, सामान्य-विशेष, नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, वाच्यता-अवाच्यता आदि अनेकों ऐसे आयाम हैं जो सामान्य दर्शन की भूमिका पर विरोधी प्रतीत होते हैं पर अनेकान्त की भूमिका पर इनकी परस्पराश्रयता उभरकर सामने आती है।

प्रस्तुत ग्रंथ 'सन्मति प्रकरण' के प्रथम और तृतीय काण्ड में विभिन्न विरोधी अवधारणाओं में अनेकान्त के आधार पर समन्वय स्थापित किया है। इसी ग्रंथ के द्वितीय काण्ड में ग्रंथकार ने अनेकान्त के अंगभूत ज्ञान और दर्शन की विस्तृत मीमांसा की है। जैसाकि पहले बतलाया जा चुका है कि मूल दृष्टियां दो हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।

द्रव्यार्थिक दृष्टि द्रव्य अर्थात् सामान्य को और पर्यायार्थिक दृष्टि पर्याय अर्थात् विशेषों को ग्रहण करती है। इसी सामान्यबोध और विशेषबोध को ही हम क्रमशः दर्शन और ज्ञान भी कह सकते हैं।

दर्शन वस्तु के सामान्य धर्मों का संग्राहक है और ज्ञान विशेष धर्मों का। सिद्धसेन ने 'जं सामण्णग्गहणं दंसण' कहकर सामान्यग्राही बोध को दर्शन कहा है। यद्यपि यह सत्य है सामान्य और विशेष धर्म सर्वथा पृथक् नहीं रहते तथापि दोनों में एक गौण होता है और एक प्रधान। दर्शन में वस्तु की सामान्य सत्ता विवक्षित रहती है और विशेष अवस्थाएं गौण व अविवक्षित।

जैन वाङ्मय में दर्शन के चार और ज्ञान के पांच प्रकारों का निर्देश मिलता है। ज्ञान और दर्शन की स्वरूप-विचारणा के परिप्रेक्ष्य में सिद्धसेन ने एकदेशीय मत का उल्लेख करते हुए उसकी समीक्षा की है। एकदेशीय मत के अनुसार "मतिज्ञान का प्रारम्भिक अंश रूप अवग्रह मात्र ही दर्शन है। अवग्रह के ईहा आदि सारे विकल्प ज्ञान की कोटि में आ जाते हैं।" सिद्धसेन ने उक्त एकदेशीय मत की समालोचना करते हुए लिखा है "चक्षुविषयक अवग्रह को चाक्षुष दर्शन मानें तो अन्य इन्द्रियों से सम्बन्धित अवग्रह को भी घ्राणदर्शन, श्रोत्रदर्शन आदि मानना होगा।"

आचार्य सिद्धसेन जैन परम्परा में अभेदवाद के पुरस्कर्त्ता के रूप में प्रतिष्ठित है। उन्होंने दर्शन और ज्ञान की अभिन्नता का प्रतिपादन किया। ज्ञान शब्द से प्रतिपाद्य उपयोग ही अपेक्षाभेद से दर्शन पद का प्रतिपाद्य कहलाता है। ज्ञान और दर्शन की तरह ग्रंथकार ने मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान में तथा केवलज्ञान और केवलदर्शन में अभेदविषयक मन्तव्य प्रस्तुत किया जो दर्शन जगत् में निश्चय ही सिद्धसेन का स्वोपज्ञ विचार माना जाता है।

मतिज्ञान का सम्बन्ध मूलतः चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन से है। मतिज्ञान की तरह चक्षुदर्शन व अचक्षुदर्शन का सम्बन्ध इन्द्रिय और मन से है। श्रुतज्ञान का सीधा सम्बन्ध मन से है। श्रुतज्ञान मूलतः सामान्यग्राही न होकर विशेषग्राही होता है। इस विशेषग्राहित्व के कारण ही श्रुतदर्शन का स्वतंत्र निरूपण प्राप्त नहीं होता। सिद्धसेन ने प्रस्तुत ग्रंथ में श्रुतदर्शन की स्वतंत्र अवधारणा का निरास किया है जिसे ग्रंथकार की मौलिक स्फुरणा कहा जा सकता है। अवधिदर्शन की अवधारणा प्रायः निर्विवाद और सर्वसम्मत है। मनः पर्यवज्ञान से सम्बन्धित कोई स्वतंत्र दर्शन नहीं है इस विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं ने विमर्श किया है।

सिद्धसेन ने मुख्यतः केवलज्ञान और केवलदर्शन के अभेदविषयक मुद्दे पर ज्यादा विस्तार से व युक्तिपुरस्सर विवेचन किया है। केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों साक्षात् उपयोग हैं। ये दोनों क्रमशः होते हैं या

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

एक साथ? ये दोनों परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न? इन प्रश्नों के विषय में विचार करने पर तीन वाद उभरकर हमारे सामने आते हैं—

1. क्रमवाद 2. युगपदवाद अथवा सहवाद 3. अभेदवाद।

क्रमवादी मान्यता के अनुसार केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों उपयोग क्रमश: उत्पन्न होते हैं और क्रमश: ही इनकी प्रवृत्ति होती है। युगपदवादी मान्यता के अनुसार केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों भिन्न-भिन्न उपयोग हैं पर दोनों की उत्पत्ति और प्रवृत्ति क्रमश: न होकर एकसाथ होती है। उपर्युक्त दोनों पक्षों के विपरीत अभेदपक्ष के अनुसार केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों उपयोग मूलत: अभिन्न हैं। सिद्धसेन दिवाकर ने मूलत: अभेदपक्ष को ही मान्य किया है। उनकी अभेदविषयक मुख्य युक्तियां ये हैं—

1. केवली प्रतिसमय संपूर्ण जगत् को सामान्य और विशेष उभयरूप से ग्रहण करता है अत: वही केवलज्ञान है और वही केवलदर्शन है।
2. आगमग्रंथों में 'जाणइ-पासइ' पद का एक साथ प्रयोग केवली के एकोपयोग का संसूचक है।
3. केवली सदा ज्ञाता, सदा द्रष्टा होते हैं और उनका यह रूप एकोपयोग या अभेदोपयोग में ही सुरक्षित रह सकता है।
4. केवली के ज्ञान व दर्शन सादि-अनन्त होते हैं यह सादि-अनन्तत्व एकोपयोग का प्रतीक है।
5. मतिश्रुत आदि चार ज्ञान क्षायोपशमिक और असर्वार्थग्राही हैं, इनमें ज्ञान और दर्शन विषयक भेद होता है। केवली का ज्ञान क्षयजन्य और सर्वार्थग्राही होता है अत: उसमें क्रम-अक्रम अथवा सामान्य विशेष जैसा कोई भेद नहीं होता। वह ज्ञान तो वस्तुत: एक व अभिन्न है।

1.8 सारांश

इस तरह सिद्धसेन का दार्शनिक जगत् में वैशिष्ट्यपूर्ण स्थान है। उनके द्वारा रचित अनेक ग्रंथों में एक महनीय ग्रंथ है सन्मति प्रकरण जिसमें यत्र-तत्र उनके मौलिक विचारों का दिग्दर्शन किया जा सकता है।

1.9 अभ्यास प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. सन्मति प्रकरण के आधार पर सिद्धसेन के अवदान का विश्लेषण करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. हेतुवाद और अहेतुवाद पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
2. सिद्धसेन के अनुसार दर्शन और ज्ञान की अभिन्नता का प्रतिपादन करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. दर्शन वस्तु के धर्मों का संग्राहक है और ज्ञान ...... धर्मों का।
2. आचार्य सिद्धसेन जैन परम्परा में .... के पुरस्कर्त्ता के रूप में प्रतिष्ठित हैं
3. ..... आदि प्राचीन आगमों में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों दृष्टियों का उल्लेख मिलता है।
4. .... ग्रंथ दार्शनिक जगत् में एक गौरवपूर्ण ग्रंथ रत्न माना जाता है।
5. सिद्धसेन का दार्शनिक जगत् में ..... स्थान है।
6. सिद्धसेन ने दार्शनिक जगत् में सर्वप्रथम .... का निरूपण किया।
7. .... ने 'जं सामण्णग्गहणं दंसण' कह कर सामान्यग्राही बोध को दर्शन कहा है।
8. सिद्धसेन की व्यापक दृष्टि और आग्रहमुक्त विचारधारा ने दर्शन के जगत् में.......का स्वर मुखर किया।
9. किसी एक पर्याय का उत्पादकाल ही किसी अन्य पर्याय का विनाशकाल अथवा .... हो सकता है।
10. सिद्धसेन ने अन्य दर्शनों को सापेक्षता के आधार पर .... बतलाया।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

8. सामान्य, विशेष, 2. अभेदवाद, 3. भगवती, 4. सन्मति प्रकरण, 5. वैशिष्ट्यपूर्ण, 6. षड्नयवाद, 7. सिद्धसेन समन्वय, 9. ध्रौव्यकाल, 10. सत्य।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–2 : द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव

संरचना

2.0 प्रस्तावना
2.1 उद्देश्य
2.2 वस्तुबोध की चार दृष्टियां
2.3 द्रव्य
2.4 क्षेत्र
2.5 काल
2.6 भाव
2.7 लोक की नित्यता, अनित्यता और सान्तता, अनन्तता
2.8 जीव की सान्तता और अनन्तता
2.9 स्याद्वाद
2.10 सारांश
2.11 अभ्यास प्रश्नावली

2.0 भूमिका

सत्य अनन्त है उसका एक दृष्टिकोण से प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु भी अनन्त धर्मात्मक है, उसकी व्याख्या भी एक दृष्टिकोण से नहीं की जा सकती। व्याख्या के लिए अनन्त दृष्टिकोण अपेक्षित होते हैं। केवली भगवान् अथवा सर्वज्ञ अनन्त सत्य को जान लेते हैं। किन्तु वे भी अनन्त सत्य का प्रतिपादन एक साथ नहीं कर सकते। ऐसा करना असंभव है। कोई ज्ञानी व्यक्ति पन्द्रह, बीस, पचास पर्यायों की अभिव्यक्ति कर सकता है। किन्तु सम्पूर्ण सत्य को वह कभी भी अभिव्यक्त नहीं कर सकता। अभिव्यक्ति की अपनी सीमाएं है। पदार्थ और उनके पर्याय अनन्त हैं। उसके द्वारा प्रतिपादित सत्य के कुछेक पर्यायों को पूर्ण सत्य मानकर अवशिष्ट पर्यायों को अस्वीकार करना सत्य की सीमा से बाहर जाना है। अनेकान्त कहता है—सत्य को एक दृष्टि से मत देखो। सत्य को अस्तित्व की दृष्टि से देखते हो तो साथ-साथ नास्तित्व की दृष्टि से भी देखो।

2.1 उद्देश्य–इसके अध्ययन से द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की जानकारी हो सकेगी।

2.2 वस्तु बोध की चार दृष्टियां

वस्तु को जानने के अनेक कोण, अनेक अपेक्षाएं होती हैं। तत्वार्थसूत्र (1/7-8) में वस्तु विज्ञान के चौदह कोण—मार्गणाएं प्रतिपादित हैं—निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान, सत्संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प बहुत्व। अनुयोगद्वारसूत्र (121) में वस्तुबोध (अनुगम) के नौ प्रकार प्रज्ञप्त हैं—सत्पदप्ररूपणा, द्रव्य प्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाषा, भाव और अल्प बहुत्व। प्रस्तुत पत्र में भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित निरूपण की मुख्य चार दृष्टियों का विवेचन किया जा रहा है। वे दृष्टियां हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इनको जाने बिना वस्तु स्वरूप का सम्यक् बोध नहीं हो सकता। क्षेत्र (space) और काल (time)—इन दो आयामों के बिना वस्तु की व्याख्या नहीं की जा सकती—यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार ज्यों-ज्यों काल बीतता है, त्यों-त्यों वह लम्बा होता जा रहा है काल और आकाश (क्षेत्र) सापेक्ष हैं, काल की लम्बाई के साथ-साथ आकाश (विश्व के आयतन) का भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रसार हो रहा है। इस प्रकार काल और आकाश (क्षेत्र) दोनों वस्तु के धर्म हैं। अत: क्षेत्र और काल वस्तु की व्याख्या के लिए अनिवार्य है। भगवान् महावीर के अनुसार क्षेत्र और काल की भांति द्रव्य (Substance) और भाव (Mode) भी वस्तु की व्याख्या के लिए अत्यन्त आवश्यक है। हमारा सारा व्यवहार सापेक्ष होता है। अत: हमारे सारे निर्णय द्रव्य-सापेक्ष, क्षेत्र-सापेक्ष, काल-सापेक्ष और भाव-सापेक्ष होंगे। इन अपेक्षा सूत्रों को छोड़कर निर्णय नहीं किया जा सकता है।

2.3 द्रव्य

भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होते हुए भी जिसका मौलिक स्वरूप एवं क्षमता क्षीण नहीं होती, वह द्रव्य है।

दार्शनिक परिभाषा में द्रव्य वही है, जिसमें गुण और पर्याय होते हैं। द्रव्य शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—अद्रुवत्, द्रवति, द्रोष्यति, तांस्तान् पर्यायान् इति द्रव्यम्—जो भिन्न अवस्था को प्राप्त हुआ, हो रहा है और होगा—वह द्रव्य है। तत्त्वार्थधिगम् सूत्र में आचार्य उमास्वाति के अनुसार "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"—जिसमें उत्पाद्, व्यय और ध्रौव्य होता है, वह सत् है, जो सत् होता है वही द्रव्य है।

अस्तित्व का निर्णय द्रव्य-सापेक्ष होता है, भाव सापेक्ष नहीं। प्रत्येक वस्तु का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। एक के अस्तित्व में दूसरा कोई हस्तक्षेप नहीं करता और न ही कर सकता। चेतन, अचेतन — सब अस्तित्व की दृष्टि से स्वतंत्र है। आत्मा का भी स्वतंत्र अस्तित्व है। परमाणु का भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। अस्तित्व की दृष्टि से सब स्वतंत्र है। यह द्रव्य-सापेक्ष निर्णय है।

प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के धर्म रहते हैं—एक सद्भावी धर्म (गुण), जो द्रव्य में नित्य रूप से रहता है। दूसरा क्रमभावी धर्म (पर्याप्त), जो परिवर्तनशील होता है।

2.4 क्षेत्र

विवक्षित पदार्थ के आधारभूत क्षेत्र का निरूपण करना। आकाश के दो प्रकार हैं—लोकाकाश और आलोकाकाश। जैन दर्शन के अनुसार लोक और आलोक का विभाजन नैसर्गिक है, अनादिकालीन है। वह किसी ईश्वरीय सत्ता द्वारा कृत नहीं है। आकाश का लोकाकाश और आलोकाकाश—इन दो भागों में विभाजन जैन दर्शन की मौलिक स्थापना है। इस स्थापना का अध्ययन महान् वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टीन की आकाश विषयक अवधारणा से किया जा सकता है।

क्षेत्र-सापेक्ष निर्णय स्वतंत्र और परतंत्र दोनों हो सकते हैं। एक परमाणु अमुक काल तक इस क्षेत्र में रहेगा। यह उस परमाणु की स्वतंत्रता है। अमुक काल के बाद वह इस क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में चला जाएगा—यह उसकी परतंत्रता है।

2.5 काल

विवक्षित पदार्थ की कालावधि का निरूपण करना।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार काल के दो प्रकार हैं—नैश्चयिक काल और व्यावहारिक काल। नैश्चयिककाल का सम्बन्ध प्रत्येक अस्तित्व के साथ है। व्यावहारिक काल का सम्बन्ध सूर्य की गति के साथ है।[1] दिगम्बर आचार्य काल को अणुरूप मानते हैं।[2] वैदिक दर्शनों में भी काल के सम्बन्ध में नैश्चयिक और

---

[1] भगवती 2/122-123

[2] द्रव्य संग्रह - 22

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

व्यावहारिक दोनों पक्ष मिलते हैं। नैयायिक और वैशेषिक काल को सर्वव्यापी और स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं।[3] योग, सांख्य आदि दर्शन काल को स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानते।[4]

काल सापेक्ष निर्णय व्यवहार को ठीक चलाने वाला होता है। जहां निर्णय काल-सापेक्ष नहीं होता, वहां सारी उलझनें पैदा होती है। कोई व्यक्ति पुरुषार्थ करने के बाद भी सफल नहीं होता। वह सोचता है, इतना श्रम किया, कुछ भी नहीं हुआ। वह व्यक्ति इसीलिए दु:खी बनता है कि वह अनेकान्त को नहीं जानता। यदि वह अनेकान्त को जानता तो कभी दु:खी नहीं बनता। वह सोचता है—पुरुषार्थ वर्तमान का पर्याय है। आदमी अपनी बुद्धि से, शरीर से पुरुषार्थ करता है, फिर भी यदि सफल नहीं होता है तो कोई न कोई बाधक तत्त्व अवश्य है। वह तत्त्व है—अव्यक्त पर्याय, सूक्ष्म पर्याय, अतीत का पर्याय। अतीत को छोड़कर वर्तमान की व्याख्या नहीं की जा सकती। वर्तमान काल विपाक काल होता है। वर्तमान है परिणाम का काल, वर्तमान है संरचना का काल, निर्माण का काल। वर्तमान अतीत से प्रभावित होता है और भविष्य को प्रभावित करता है। अत: अतीत और भविष्य के बीच की कड़ी है वर्तमान। वर्तमान-सापेक्ष निर्णय काल-सापेक्ष होता है। बौद्धों के महान् आचार्य धर्मकीर्ति ने स्याद्वाद के सिद्धान्त की मखौल करते हुए कहा—"स्याद्वाद निर्णय तक नहीं पहुंचता। वह कहता है—यह भी हो सकता है, वह भी हो सकता है। अस्तित्व भी हो सकता है, नास्तित्व भी हो सकता है। तब हम क्यों न मानें कि दही ऊंट हो सकता है और ऊंट दही हो सकता है?" समाधान की भाषा में यदि चिन्तन किया जाए तो पदार्थ सर्वथा परतंत्र नहीं है। यदि पदार्थ सर्वथा परतंत्र नहीं है, अर्थात् उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है, तो दही को ऊंट होने से, ऊंट को दही होने से कौन रोक सकता है? आज जिन परमाणुओं ने दही की रचना की है, वे ही परमाणु काल के अन्तराल में परिवर्तित होकर ऊंट के शरीर की संरचना कर सकते हैं। आज जो परमाणु ऊंट के शरीर की संरचना कर रहे हैं, ये परमाणु भी बदल कर दही के रूप में परिवर्तित हो सकते हैं। अत: काल-निरपेक्ष निर्णय कभी भी सत्य को प्राप्त नहीं हो सकता।

2.6 भाव

विवक्षित पदार्थ में औदरिक, उपशम आदि भावों (पर्यायों) का निरूपण करना। जैसे कोई जीव नैरयिक होकर तिर्यंच हो जाता है, तिर्यंच होकर मनुष्य और मनुष्य होकर देव। इस प्रकार भावों (पर्यायों) का चक्र चलता रहता है। इस अपेक्षा से प्रत्येक द्रव्य का स्व-भाव स्व-पर्याय होता है।

2.7 लोक की नित्यता, अनित्यता और सान्तता, अनन्तता

लोक की नित्यता, अनित्यता और सान्तता, अनन्तता का प्रश्न आज नया नहीं है। आगमयुग में भी चर्चा का विषय रहा है। लोक की नित्यता, अनित्यता और सान्तता, अनन्तता के विषय में प्राय: सभी धर्म और दर्शन अपना भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत करते हैं। गौतम बुद्ध और भगवान् महावीर के समक्ष भी यह प्रश्न उपस्थित किया गया। गौतम बुद्ध ने इस प्रश्न को अव्याकृत कह कर छोड़ दिया। अव्याकृत कहने का महान् कारण उनके सामने था। यदि वे लोक को नित्य कहते तो उन्हें उपनिषद् मान्य शाश्वतवाद को स्वीकार करना पड़ता। यदि वे अनित्य कहते तो भौतिकवादियों द्वारा सम्मत् उच्छेदवाद को स्वीकार करना पड़ता। अत: गौतम बुद्ध ने लोक की नित्यता, अनित्यता और सान्तता अनन्तता सम्बन्धी प्रश्न को अव्याकृत की कोटि में रखा।

जिस प्रश्न को गौतम बुद्ध ने अव्याकृत कहकर छोड़ दिया, उसी प्रश्न को भगवान् महावीर ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार दृष्टियों के द्वारा समाहित कर स्कन्दक परिव्राजक की जिज्ञासा को शांत किया।

---

[3] (क) न्यायकारिकावली - 45
(ख) वैशेषिक दर्शन - 2/2/6-10

[4] सांख्य कौमुदी - 33

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भगवती (सूत्र. 2/44-45) में वर्णित स्कन्दक और भगवान् महावीर की चर्चा का प्रसंग संक्षेप में इस प्रकार है—**जे वि य ते खंदया! टयमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकपे समुप्पज्जित्थाप्पे किं सअंते लोए? अणंते लोए? तस्स वि य णं अयमष्ट्ठे—एवं खलु मए खंदया! च्उव्विहे लोए पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ।**

दव्वओ णं एगे लोए सअंते।

खेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयाम—

विक्खमेणं, असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं पण्णत्ते, अत्थि पुण से अंते।

कालओणं लोए न कयाइ न आसी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ-भविंसु य, भवति य भविस्सइ य-धुवे नियए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए निच्चे, नत्थि पुण से अंते।

भावओ णं लोए अणंता वण्णपज्जवा, अणंता गंधपज्जवा, अणंता रसपज्जवा, अणंता फासपज्जवा, अणंता संठाणंपज्जवा, अणंता गरुयलहुयपज्जवा, अणंता अगरूयलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अंते।

सेत्तं खंदगा! दव्वओ लोए सअंते, खेत्तओ लोए संअते, कालओ लोए अणंते, भावओ लोएअणंते।

स्कन्दक! तुम्हारे मन में जो इस प्रकार का आध्यात्मिक, स्मृत्यात्मक, अभिलाषात्मक, मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ— क्या लोक सान्त है, अथवा अनन्त है? उसका भी यह अर्थ है।स्कन्दक! मैंने लोक चार प्रकार का बतलाया है, जैसे द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतः और भावतः।

द्रव्यतः लोक एक और सान्त है।

क्षेत्रतः लोक असंख्येय कोटाकोटि योजन लम्बा चौड़ा और असंख्येय कोटा-कोटि योजन परिधि वाला प्रज्ञप्त है और वह अन्त सहित है।

कालतः लोक कभी नहीं था, कभी नहीं है, और कभी नहीं होगा, ऐसा नहीं है—वह था और होगा—वह ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित नित्य है और उसका अन्त नहीं है, वह अनन्त है। भावतः लोक में अनन्त वर्णपर्यव, अनन्त गंधपर्यव, अनन्त रसपर्यव, अनन्त स्पर्शपर्यव, अनन्त संस्थानपर्यव, अनन्त गुरुलघुपर्यव, अनन्त अगुरुलघुपर्यव है और उसका अन्त नहीं है, वह अनन्त है। स्कन्दक इसलिए द्रव्यतः लोक सान्त है, क्षेत्रतः लोक सान्त है, कालतः लोक अनन्त है, और भावतः लोक अनन्त है।

जिस प्रकार भगवान् महावीर की उत्तर पद्धति में ये चार दृष्टियां मिलती हैं, वैसी ही अर्पित अनर्पित दृष्टि या व्याख्या पद्धति भी मिलती है, जिसके द्वारा स्याद्वाद विरोध मिटाने में समर्थ होता है।[1] जमाली को उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा[2]—**सासए लोए जमाली! जं न कयाइ नासि, न कयाइ न भवइ, न अयाइ न भविस्सइ-भुविं च, भवइ य, भविस्सइ य—धुवे, नितिए, सातिए, अक्खए, अव्वए अवट्ठिए निच्चे। असासए लोए जमाली! जं ओसप्पिणी भवित्ता उस्सप्पिणी भवइ, उस्सपिणी भवित्ता ओसप्पिणाी भवइ।**

जमाली! लोक शाश्वत है। वह कभी नहीं था, नहीं है और नहीं होगा—ऐसा नहीं है। वह था, है और रहेगा, इसलिए वह ध्रुव नित्य, शाश्वत, अक्षय, अवस्थित नित्य है। जमाली! लोक अशाश्वत है। क्योंकि वह अवसर्पिणी होकर उत्सर्पिणी होता है, उत्सर्पिणी होकर अवसर्पिणी होता है।

उक्त विवेचन द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से किया गया है। ये दोनों धर्म वस्तु में प्रतिपल समस्थितिक रहते हैं, किन्तु अर्पित मुख्य और अनर्पित गौण होता है।

---

[1] ठाणं 10/46

[2] भगवती 9/233

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लोक शाश्वत है—इसमें शाश्वत धर्म मुख्य है और अशाश्वत धर्म गौण।

लोक अशाश्वत है—इसमें अशाश्वत धर्म मुख्य है और शाश्वत धर्म गौण।

यह द्विरूपता वस्तु का स्वभाव-सिद्ध धर्म है। काल-भेद या एकरूपता हमारे वचन से उत्पन्न है। शाश्वत अशाश्वत का काल भिन्न नहीं होता। फिर भी हम पदार्थ को शाश्वत या अशाश्वत कहते हैं—यह अर्पितानर्पित व्याख्या है।

2.8 जीव की सान्तता और अनन्तता

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन चार दृष्टियों के आधार पर भगवान् महावीर ने प्रत्येक वस्तु को चार भागों में विभक्त कर दिया। अर्थात् दृष्टा चार दृष्टियों, अपेक्षाओं और आदेशों से युक्त हो गया। अभिप्राय यह है कि वस्तु का जो यथार्थ रूप है, वह उन चार दृष्टियों में से किसी एक में अवश्य समाविष्ट हो जाता है और द्रष्टा जिस दृष्टि से वस्तुदर्शन करता है, उसकी वह दृष्टि भी इन्हीं चारों में से किसी एक में समाहित हो जाती है।

जिस प्रकार लोक की सान्तता और अनन्तता के प्रश्न को गौतम बुद्ध ने अव्याकृत की कोटि में रखा, उसी प्रकार जीव की सान्तता और अनन्तता के प्रश्न में भी उनका मन्तव्य स्पष्ट नहीं है। यदि काल की अपेक्षा से सान्तता और अनन्तता विचारणीय हो तब तो उनका अव्याकृत मत अपने आप सिद्ध हो जाता है। द्रव्य की अपेक्षा एवं क्षेत्र की अपेक्षा से जीव की सान्तता के विषय में उनके विचार जानने का कोई साधन नहीं है। अतः प्रस्तुत प्रश्न को भी बौद्ध दर्शन के मतानुसार अव्याकृत कहा जा सकता है। जीव की सान्तता और अनन्तता के सन्दर्भ में भगवान् महावीर का मन्तव्य एकदम स्पष्ट एवं सटीक है। उन्होंने द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव के माध्यम से सान्तता और अनन्तता का प्रतिपादन कर स्कन्दक के मनोगत प्रश्नों को समाहित किया। स्कन्दक के मनोगत प्रश्नों का निराकरण भगवान् महावीर ने जिन शब्दों में किया वह इस प्रकार है[1]—

स्कन्दक! मैंने जीव चार प्रकार का बतलाया है, जैसे द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतः और भावतः।

द्रव्यतः जीव एक और सान्त है।

क्षेत्रतः जीव असंख्येयप्रदेशी है, आकाश के असंख्येयप्रदेशों में अवगाहन किए हुए हैं और वह अन्तसहित है।

कालतः जीव कभी नहीं था, कभी नहीं है और कभी नहीं होगा, ऐसा नहीं है—वह था, है और होगा—वह ध्रुव, नित्य, शाश्वत अक्षय अव्यक्त अवस्थित नित्य है और उसका अन्त नहीं है, वह अनन्त है। भावतः जीव में अनंत ज्ञानपर्यव, अनंत दर्शनपर्यव अनंत चरित्रपर्यव, अनंतगुरुलघुपर्यव, अनंत अगुरुलघुपर्यव और उसका अन्त नहीं है, वह अनन्त है।

स्कन्दक! इसलिए द्रव्यतः जीव सान्त है, क्षेत्रतः जीव सान्त है, कालतः जीव अनन्त है, भावतः जीव अनन्त है। इस प्रकार भगवान् महावीर ने समन्वयपरक दृष्टिकोण से अनेक विरोधी प्रश्नों का समाधान सहज रूप में प्रस्तुत किया।

स्याद्वाद

प्रत्येक द्रव्य वाच्य-अवाच्य, ज्ञेय-अज्ञेय, भिन्न-अभिन्न, अस्तित्व-नास्तित्व, सत्-असत्—इन दोनों प्रकार के पर्यायों से युक्त है। कोई भी द्रव्य सर्वथा वाच्य भी नहीं है और अवाच्य भी नहीं। सर्वथा भिन्न भी नहीं है और अभिन्न भी नहीं। जो द्रव्य है, वह सत् है जो सत् हैं, वह वाच्य भी है और अवाच्य भी। वह भिन्न भी है और अभिन्न भी। इन सहज सम्भूत नियमों को समझाने का जो दृष्टिकोण है, वह अनेकान्त है। इन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

[1] भगवती 2/46

नियमों की जो व्याख्या पद्धति है, प्रतिपादन की शैली है, वह है स्याद्वाद। अर्थात् अनेकान्त सिद्धान्त है और स्याद्वाद उसका दर्शन है।

"स्यात्" शब्द तिड़न्त प्रतिरूपक अव्यय है। इसके प्रशंसा, अस्तित्व, विवाद, विचारणा, अनेकान्त, संशय आदि अनेक अर्थ होते हैं। जैनदर्शन में "स्याद्" शब्द सापेक्षता और अनेकान्त के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। स्याद् शब्द सापेक्षता का सूचक है, उसके बिना सत्य को जाना नहीं जा सकता और उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। भगवान् महावीर ने स्याद्वाद की पद्धति से अनेक प्रश्नों का समाधान किया है। उसे आगम युग का अनेकान्तवाद या स्याद्वाद कहा जाता है। दार्शनिक युग में उसी का विस्तार हुआ, किन्तु मूल स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। भगवान् महावीर ने स्याद्वाद के माध्यम से अनेक प्रश्नों का समाधान किया और भिक्षुओं को भी स्याद्वाद का प्रयोग करने का निर्देश दिया। सूत्रकृतांग सूत्र (1/14 1/22) में भिक्षु को कैसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए, इस प्रश्न के उत्तर में बताया गया—भिक्षु किसी पदार्थ के प्रति आशंकित हो, फिर भी सत्य के प्रति विनम्र होकर प्रतिपादन करे, प्रतिपादन में विभज्यवाद का प्रयोग करे। टीकाकार ने विभज्यवाद के तीन अर्थ किये हैं[2]—

1. पृथक्-पृथक् अर्थों का निर्णय करने वाला वाद
2. स्याद्वाद
3. अर्थों का सम्यक् विभाजन करने वाला वाद, जैसे द्रव्य की अपेक्षा से नित्यवाद, पर्याय की अपेक्षा से अनित्यवाद। सभी पदार्थों का अस्तित्व अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से है। पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से नहीं है। जैसे—दो द्रव्य क्षीरनीरवत् मिल जाते हैं, फिर भी वे अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। इस प्रकार से प्रत्येक द्रव्य स्व की अपेक्षा से स्व-द्रव्य होता है।

- दो द्रव्य एक क्षेत्र में रहते हुए भी एक-दूसरे से भिन्न अपना अस्तित्व बनाए हुए रहते हैं। इस अपेक्षा से प्रत्येक द्रव्य का स्व-क्षेत्र होता है।
- द्रव्य का अतीत, वर्तमान और भविष्य के पर्यायों से सम्बन्ध होता है। इस अपेक्षा से प्रत्येक द्रव्य का स्व-काल होता है।
- द्रव्य बदलता रहता है। इस अपेक्षा से प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव या स्व-पर्याय होता है।

बुद्ध ने भी स्वयं को विभज्यवाद का निरूपक कहा है।[1] बौद्ध साहित्य में विभज्यवाद, विभज्यवाक् आदि शब्दों का उल्लेख अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। बौद्ध भिक्षु उत्तर देने योग्य प्रश्नों का उत्तर विभज्यवाद की शैली में देते थे। सभी प्रश्नों के उत्तर में इसका प्रयोग नहीं करते थे।

इसीलिए गौतम बुद्ध का विभज्यवाद कुछ मर्यादित क्षेत्र में था और भगवान् महावीर का विभज्यवाद व्यापक क्षेत्र में था। यही कारण है कि जैदर्शन कालान्तर में अनेकान्त में परिणत हो गया और बौद्धदर्शन किसी अंश में विभज्यवादी होते हुए भी एकान्तवाद की ओर अग्रसर हुआ।

सप्तभंगों का आगमकालीन रूप

सप्तभंगी एक ऐसा सिद्धान्त है, जो वस्तु का यथार्थ रूप प्रकट करने में समर्थ है। उसके प्रत्येक भंग में प्रयुक्त "स्यात्" शब्द कथन की मर्यादा को संतुलित एवं व्यस्थित रखता है। सामान्यतः किसी द्रव्य के संदर्भ में अस्ति और नास्ति का प्रयोग होता है। जब अस्ति और नास्ति की सीमा का अतिक्रमण होता है, तब अवक्तव्यता को माध्यम बनाया जाता है। इस प्रकार अभिव्यक्ति के तीन रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत होते

---

[2] सूत्रकृतांग वृत्ति-पत्र — 256-257

[1] Early Buddhist Theory of Knowledge — K.N. Jayatilleke, Page 280, 293.

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हैं—अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य। इन तीनों के संयोग एवं "स्यात्" शब्द से सप्त भंगों का निर्माण होता है, जिसे सत्पभंगी कहते हैं।

सप्तभंगी के सन्दर्भ में दार्शनिकों में बड़ा मतभेद है। कुछ दार्शनिकों के अनुसार—यह सप्तभंगी जैन आचार्यों की मनगढन्त परिकल्पना है, जो वैदिक आदि ग्रंथों से उद्धृत प्रतीत होती है। किन्तु प्राचीन जैन, बौद्ध, वैदिक आदि ग्रंथों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सप्त भंगों की परिकल्पना मन गढन्त नहीं, बल्कि यथार्थ के धरातल पर खरी उतरती है। जैसे ऋग्वेद और उपनिषदों में निम्नलिखित चार भंग प्राप्त होते हैं—

1. सत् (विधिपक्ष) 2. असत् (निषेध पक्ष)

3. सदसत् (उभयपक्ष) 4. न सत् न असत् (अनुभय)

कुछ दार्शनिकों के अनुसार जैनों ने उपर्युक्त चार भंगों में से प्रथम तीन भंग ज्यों के त्यों ले लिए और चतुर्थ भंग में परिवर्तन कर दिया। किन्तु उनको इस विषय का ज्ञान होना चाहिए कि अनुभय की मूलभूत दृष्टि निषेधात्मक तथा कभी-कभी उसे शेष तीन भंगों का निषेधक भी माना जाता है। जबकि अव्यक्त शब्द तीनों भंगों का निषेधक नहीं, अपितु उपर्युक्त तीनों भंगों की स्वीकृति के साथ-साथ एक ही वाक्य में वस्तु की वाच्यता को असंभव बताता है।

बौद्ध ग्रंथों में निम्नलिखित चार भंग प्राप्त होते हैं—

1. होति तथागतो परंमरणाति? 2. न होति तथागतो परंमरणाति?

3. होति च न होति च तथागतो परंमरणाति? 4. नेव होति न न होति तथागतो परंमरणाति?

इसी प्रकार त्रिपिटक में संजयवेलट्ठिपुत्त के मत का जो वर्णन प्राप्त होता है, उसमें भी इन्हीं चारों पक्षों का निरूपण है। वे किसी वस्तु के विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कहते हैं जैसे क्या परलोक है?

1. है।
2. नहीं है।
3. है भी और नहीं भी।
4. न है और न नहीं है।

संजयवेलट्ठिपुत्त का "संशयवाद" इन चार भंगों से स्पष्ट होता है। इसी के आधार पर पं. राहुल सांस्कृत्यायन आदि दार्शनिकों ने संजयवेलट्ठिपुत्त की वर्णन शैली को स्याद्वाद का आधार मान लिया था। उन्होंने दर्शन-दिग्दर्शन (पृ.496) में लिखा—आधुनिक जैनदर्शन का आधार स्याद्वाद है, जो मालूम होता है कि संजयवेलिट्ठिपुत्त के चार अंग अनेकान्त को लेकर सात अंग वाला किया है। लेकिन उन विचारकों को यह ज्ञान होना चाहिए कि जहां जैन दर्शन में सप्तभंगी स्वीकारात्मक है, वहीं संजयवेलट्ठिपुत्त का संशयवाद निषेधात्मक है।

अतः उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि जैनदर्शन में मान्य सप्तभंगी का स्वरूप उसके स्वतंत्र चिन्तन का परिणाम है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि स्याद्वाद के सप्त भंगों की परिकल्पना आगमकालीन है या उत्तरवर्ती। इन प्रश्नों के समाधान में भगवतीसूत्र अच्छी तरह से मार्गदर्शक बन सकता है। भगवतीसूत्र के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि सप्त भंगों की परिकल्पना उत्तरकालीन नहीं, आगमकालीन है।

भगवान् महावीर ने गौतमस्वामी के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा[1]—

1. रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मरूप (अस्तित्ववान्) है।

[1] भगवतीसूत्र 12/10/211-212

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मरूप नहीं है।

3. रत्पप्रभा पृथ्वी स्यात् अवक्तव्य है।

इस उत्तर को सुनकर गौतम ने पुनः प्रश्न किया। भंते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है। महावीर ने समाधान की भाषा में कहा—रत्नप्रभा पृथ्वी स्व (अपने स्वरूप) की अपेक्षा आत्मरूप है, पर की अपेक्षा आत्मरूप नहीं है, स्व और पर—दोनों की अपेक्षा अव्यक्तव्य है। क्योंकि वस्तु का स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव से निश्चित होता है। जिसे जैनदर्शन में चतुष्टय की संज्ञा दी गई है। स्व चतुष्टय की अपेक्षा वस्तु में भावात्मक सत्ता होती है, पर चतुष्टय की अपेक्षा वस्तु में अभावात्मक सत्ता होती है। स्व चतुष्टय वस्तु का भावात्मक पक्ष है, पर चतुष्टय वस्तु का अभावात्मक पक्ष है। इन्हीं स्व और पर चतुष्टय के आधार पर ही वस्तु का स्वरूप निश्चित होता है। इसी प्रकार गौतम ने जब अन्य पृथ्वियों, देवलोकों आदि के विषय में पूछा, तब भगवान् महावीर ने उन सभी प्रश्नों का उत्तर रत्नप्रभा पृथ्वी की भांति दिया। इससे यह स्पष्ट होता है कि यही तीन मूल भंग है। इन्हीं तीनों मूलभूत भंगों के संयोग से सप्तभंगी तैयार की गई। यद्यपि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है और उन अनन्त धर्मों के अनन्त भंग बन सकते हैं किन्तु उन अनन्त भंगों का समावेश निम्नोक्त सात भंगों के अन्तर्गत हो जाता है।

1. स्याद् अस्ति
2. स्यात् नास्ति
3. स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति
4. स्यात् अवक्तव्य
5. स्यात् अस्ति अवक्तव्य
6. स्यात् नास्ति अवक्तव्य
7. स्यात् आस्ति, स्यात् नास्ति अवक्तव्य

मूल भंग तीन हैं—अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य। गणित के नियम से भी तीन संख्याओं के संयोग से बनने वाले भंग सात ही होते हैं, अधिक नहीं।

जिस प्रकार रत्नप्रभा पृथ्वी आदि से तीन भंगों का निर्माण होता है, उसी प्रकार परमाणु पुद्गल से तीन द्वि प्रदेशी स्कन्ध से छह, तीन प्रदेशी स्कन्ध से तेरह, चतुष्क प्रदेशी स्कन्ध से उन्नीस, पंचप्रदेशी स्कन्ध से बावीस, छह प्रदेशी स्कन्ध से तैवीस भंगों की स्थापना होती है।[2]

उपर्युक्त त्रिप्रदेशिक स्कन्ध यावत् छह प्रदेशिक स्कन्धों के भंगों की जो संख्या प्रस्तुत की गई है, उससे यही फलित होता है कि भंग सात ही हैं, जो जैनदर्शन में स्वीकृत हैं। जो अधिक भंग संख्या है, वह मौलिक भंगों के भेद के कारण नहीं किन्तु एक वचन-बहुवचन के भेद की विवक्षा के कारण है।

2.10 सारांश

उपर्युक्त समस्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का सिद्धान्त सापेक्षता का सिद्धान्त है। सापेक्षता के बिना किसी भी अस्तित्व का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। जो निर्णय इन चार दृष्टियों के आधार पर नहीं बदलता वह निर्णय नहीं, अनिर्णय होता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा—तुम कोई भी निर्णय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से निरपेक्ष होकर मत करो।

2.11 अभ्यास प्रश्नावली

[2] द्रष्टव्य भगवतीसूत्र 12/217-224 के भंग

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निबन्धात्मक प्रश्न

1. द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव पर एक विस्तृत निबन्ध लिखें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. वस्तुबोध की चार दृष्टियां स्पष्ट करें।
2. जीव की सान्तता और अनन्तता को समझाएं।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अनेकान्त कहता है— सत्य को .... से मत देखो।
2. हमारा सारा व्यवहार .... होता है।
3. दार्शनिक परिभाषा में द्रव्य वही है, जिसमें ...... होते हैं।
4. जैनदर्शन के अनुसार लोक और अलोक का विभाजन नैसर्गिक है, ... है।
5. द्रव्यतः जीव एक और .... है।
6. भगवान् महावीर ने .... दृष्टिकोण से अनेक विरोधी प्रश्नों का समाधान सहज रूप में प्रस्तुत किया।
7. इन सहज सम्भूत नियमों को समझाने का जो दृष्टिकोण है, वह ...... है।
8. इन नियमों की जो व्याख्या पद्धति है, प्रतिपादन की शैली है, वह है ..... ।
9. बौद्ध भिक्षु उत्तर देने योग्य प्रश्नों का उत्तर ...... की शैली में देते थे।
10. सप्तभंगी एक ऐसा सिद्धान्त है, जो वस्तु का ..... प्रकट करने में समर्थ है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर —

1. एक दृष्टि	2. सापेक्ष	3. गुण और पर्याय	4. अनादिकालीन	5. सान्त
6. समन्वयपरक	7. अनेकान्त	8. स्याद्वाद	9. विभज्यवाद	10.यथार्थरूप।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–3 : नय के दृष्टान्त

संरचना

3.0 प्रस्तावना
3.1 उद्देश्य
3.2 आचार्य सिद्धसेन के आधार पर नय विभाजन
3.3 सात नय
3.4 प्रस्थक दृष्टान्त
3.5 व्यवहार नय,
3.6 संग्रह नय
3.7 ऋजुसूत्र नय
3.8 शब्द नय
3.9 वसति दृष्टान्त
3.10 व्यवहार नय
3.11 संग्रह नय
3.12 ऋजुसूत्र नय
3.13 प्रदेश दृष्टान्त
3.15 नैगम नय
3.16 संग्रह नय
3.17 व्यवहार नय
3.18 ऋजुसूत्र नय
3.19 शब्द नय
3.20 समभिरूढ़ नय
3.21 एवंभूतनय
3.22 नय और सामायिक
3.23 सारांश
3.24 अभ्यास प्रश्नावली

3.0 भूमिका

नय के स्वरूप व उसके व्युत्पत्तिमूलक अर्थ के सम्बन्ध में नय विचार पाठ में विस्तार से बताया गया है। नय किसी भी विषय में विचार करने के जितने रास्ते हैं, वचन के जितने मार्ग हैं, तत्त्व निरूपण के जितने प्रकार हैं वे सब नय कहलाते हैं। मुख्य रूप से नय के दो भेद हैं-

1. निश्चय नय–यह पारमार्थिक है, वास्तविक है।
2. व्यवहार नय–यह उपचार है, व्यवहार है।

क्या चलमान को चलित और क्रियमाण को कृत कहा जा सकता है? गणधर गौतम के इस प्रश्न को समाहित करते हुए भगवान् महावीर ने कहा था–हां, कहा जा सकता है, निश्चय नय से इसकी सिद्धि होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

क्रियाकाल और निष्ठाकाल दो नहीं, एक ही है। प्रारब्ध क्षण को भी निष्पन्न क्षण माना जाता है। पच्यमान को भी पक्व कहा जा सकता है।

निश्चय नय की दृष्टि से मनुष्य एक है, अकेला है। किन्तु मनुष्य अकेला जी नहीं सकता, अत: वह द्वित्व में प्रविष्ट होता है, यह व्यवहार नय है।

'मैं एक हूं, 'यह निश्चय नय की दृष्टि है। मैं आत्मा हूं, मैं ज्ञान हूं, मैं विद्यार्थी हूं, मेरे अनेक रूप हैं, यह व्यवहार नय की दृष्टि है।

3.1 उद्देश्य– इसके अध्ययन से नय की जानकारी हो सकेगी।

3.2 आचार्य सिद्धसेन के आधार पर नय विभाजन

आचार्य सिद्धसेन कृत 'सन्मति तर्क प्रकरण' में मूलभूत दो नय स्वीकृत हैं—द्रव्यास्तिक नय और पर्यायास्तिक नय। बाकी के नय इन्हीं की शाखाएं हैं। भगवतीसूत्र के सातवें शतक में इन नयों की अपेक्षा से दिये गये समाधान उपलब्ध हैं-गौतम ने पूछा-भंते! जीव शाश्वत है या अशाश्वत? भगवान् महावीर ने कहा-गौतम! द्रव्यार्थिक नय से जीव शाश्वत हैं और पर्यायार्थिक नय से अशाश्वत।

द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं—1. नैगम 2. संग्रह 3. व्यवहार। पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं- 1. ऋजुसूत्र, 2. शब्द, 3. समभिरूढ़, 4. एवंभूत। इस प्रकार नय सात होते हैं।

3.3 सात नय

1. नैगम-सामान्य और विशेष धर्मो का परिच्छेद करने वाला दृष्टिकोण।
2. संग्रह-सामान्यग्राही दृष्टिकोण।
3. व्यवहार-विशेषग्राही दृष्टिकोण।
4. ऋजुसूत्र-वर्तमानग्राही दृष्टिकोण।
5. शब्द नय-नाम, स्थापना और द्रव्य का अस्वीकार, लिंगभेद और वचनभेद को स्वीकार करने वाला दृष्टिकोण।
6. समभिरूढ़-शब्द की एकार्थता को अस्वीकार करने वाला दृष्टिकोण।
7. एवंभूत-शब्द और अर्थ की एकात्मकता को स्वीकार करने वाला दृष्टिकोण।

नय सप्तक को सरलता से परिभाषित करने वाले गणाधिपति गुरूदेवश्री तुलसी के निम्न पद्य पठनीय एवं स्मरणीय हैं-

1. सबसे व्यापक सत-असत भेदाभेद प्रधान।
   नहीं एक गम-क्रम, प्रथम नैगम नय का स्थान।।
2. इस संक्षेपीकरण में, उसी ओर प्रस्थान।
   पाए पद अद्वैत का, नय संग्रह अभिधान।।
3. बिना भेद विस्तार के, चलता कब संसार।
   इसीलिए है तीसरा, भेदक नय व्यवहार।।
4. वर्तमान पर्याय ही, है हित अत्र अमुत्र।
   ऋजुता से स्वीकृत करे, चौथा नय ऋजुसूत्र।।
5. काल लिंग वचनादि से, वाचक है भिन्नार्थ।
   शाब्दिक संयोजन सुघड़, बने शब्द नय सार्थ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6. अर्थ-भेद पर्याय से स्वीकारे संवेद।
समभिरूढ़ नय से नियत, भिक्षु श्रमण मुनि भेद
7. वाचक की वास्तविकता में परिणत उपयुक्त।
भिक्षारत ही भिक्षु है, एवंभूत प्रयुक्त।। (अर्हत्-वाणी)

अनुयोगद्वार में सूत्रकार ने नय को समझाने के लिए तीन दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं-

1. प्रस्थक दृष्टान्त 2. वसति दृष्टान्त 3. प्रदेश दृष्टान्त

3.4 प्रस्थक दृष्टान्त

कोई पुरुष कुल्हाड़ी लेकर अटवी की ओर जाता है। उसे देखकर कोई पूछता है-आप कहां जा रहे हैं? वह कहता है- मैं प्रस्थक (अनाज मापने के लिए काष्ठनिर्मित पात्र) के लिए जाता हूं।
वृक्ष को काटते हुए देखकर कोई पूछता है-आप क्या काट रहे हैं?

वह कहता है-मैं प्रस्थक काट रहा हूं। काष्ठ को तराशते हुए, उकेरते हुए और लिखते हुए, प्रमार्जित करते हुए देखकर कोई पूछता है—आप क्या कर रहे है?वह कहता है-मैं प्रस्थक तराश रहा हूं, उकेर रहा हूं और लिख रहा हूं।

इस प्रकार नैगम नय और व्यवहार नय पूर्वोक्त सभी अवस्थाओं को प्रस्थक मानते हैं।

संग्रह नय धान्य से व्याप्त और पूरित होने पर मेय समारूढ़ प्रस्थक को प्रस्थक मानता है।

शब्द, समभिरूढ़ और एंवभूत-ये तीनों शब्द नय प्रस्थक के अर्थाधिकार को जानने वाले व्यक्ति को प्रस्थक मानते हैं। अथवा जिसके बल से प्रस्थक निष्पन्न होता है, वह प्रस्थक कहलाता है। दृष्टान्त का विश्लेषण-प्रस्थक के प्रसंग में सूत्रकार ने नैगम नय के तीन प्रकारों-अविशुद्ध, विशुद्ध और विशुद्धतर का उल्लेख किया है।

- काष्ठ कारण है और प्रस्थक कार्य है। कारण में कार्य का उपचार करने से काष्ठ के लिए जाने वाला व्यक्ति कहता है-मैं प्रस्थक के लिए जाता हूं, यह निरूपण अविशुद्ध नैगम नय का है।
- काष्ठ काटते समय-मैं प्रस्थक काट रहा हूं, यह निरूपण विशुद्ध नैगम नय का है। यहां भी कारण में कार्य का उपचार है।
- काष्ठ को तरासना, उकेरना आदि प्रस्थक निर्माण क्रिया के ही अंग हैं। इन क्रियाओं को सम्पादित करते हुए व्यक्ति कहता है-मैं प्रस्थक तरास रहा हूं, उकेर रहा हूं इत्यादि। यह निरूपण विशुद्धतर नैगम नय का है।
- नैगम नय के इन तीन भेदों का आधार प्रस्थक निर्माण की दूरी और निकटता है। प्रथम क्रिया में प्रस्थक का संकल्प है। दूसरी में प्रस्थक के उपादान का ग्रहण है और तीसरी क्रिया में प्रस्थक का निर्माण किया जा रहा है। इस प्रकार जैसे-जैसे निर्माण का व्यवधान कम होता जाता है, वैसे-वैसे दृष्टिकोण विशुद्ध होता जाता है।

कषायपाहुड़ (पृ. 224) में ऋजुसूत्र नय तथा शब्द नय के प्रसंग में प्रस्थक का उल्लेख किया गया है।

जिनभद्रगणी ने नैगमनय के प्रसंग में निलयन, प्रस्थक और ग्राम इन तीन दृष्टान्तों का उल्लेख किया है। (विशेषावश्यक भाष्य गाथा 2187, 2188)

विद्यानन्दस्वामी ने प्रस्थक के संकल्प को नैगम नय का विषय बताया है। (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 4, श्लोक 18,19)

माइल्लधवल ने अप्रस्थ को प्रस्थ कहने वाले को भावी नैगम नय का विषय बताया है। (नयचक्र 205)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.5 व्यवहार नय

व्यवहार नय लोक व्यवहार को मान्य करता है, इसलिए इसका दृष्टिकोण नैगम नय के समान ही है।

3.6 संग्रह नय

नैगम और व्यवहार नय से विशुद्धतर है संग्रह नय। यह विशेष को मान्य नहीं करता, इसलिए इसमें अर्थक्रियाकारित्व काल की अवस्था वाले, धान्य से व्याप्त, धान्य से परिपूर्ण और मेय से युक्त प्रस्थक को ही प्रस्थक कहा जाता है।

3.7 ऋजुसूत्र नय

यह वर्तमानग्राही होने के कारण संग्रह नय की अपेक्षा विशुद्धतर है। यह स्वरूप की निष्पत्ति के बाद अपनी क्रिया में हेतुभूत प्रस्थक को और उसके द्वारा मापे गए धान्य आदि को भी प्रस्थक मानता है। कषायपाहुड़ (पृ.224) के अनुसार जिस समय प्रस्थक धान्य मापा जाता है, उस समय प्रस्थक को प्रस्थक कहा जाता है।

3.8 शब्दनय

शब्द, समभिरूढ. और एवंभूत ये तीनों शब्द नय भावप्रधान होने के कारण अर्थ को मान्य नहीं करते। इनके अनुसार सब वस्तुएं अपनी आत्मा में हैं, बाह्य जगत् में नहीं। जैसे-जीव में चेतना। प्रस्थक का ज्ञाता और उसमें उपयुक्त (दत्तचित्त) व्यक्ति ही प्रस्थक कहलाता है, काष्ठपात्र प्रस्थक नहीं हो सकता यह शब्दनयत्रयी का निरूपण है।

शब्दनयत्रयी के अभिप्राय की बौद्धों के विज्ञानाद्वैतवाद, वेदान्त के ब्रह्माद्वैतवाद और प्रत्ययवाद की अवधारणा से तुलना की जा सकती है।

प्रस्थक दृष्टान्त का तात्पर्यार्थ यह है कि ज्ञेय एक अवस्था में ज्ञाता से भिन्न होता है और एक अवस्था में ज्ञाता से अभिन्न हो जाता है। इस अनेकान्तात्मक दृष्टि से ही वस्तु को समग्र दृष्टिकोणों से जाना जा सकता है।

3.9 वसति दृष्टान्त

दो व्यक्तियों के संवाद से 'वसति' के दृष्टान्त को समझा जा सकता है-

क. तुम कहां रहते हो?

ख. मैं लोक में रहता हूं।

क. लोक तीन हैं- उर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक। तुम किस लोक में रहते हो?

ख. मैं तिर्यकलोक में रहता हूं।

क. तिर्यक्लोक में असंख्ययेय द्वीप और समुद्र हैं? तुम किस द्वीप में रहते हो?

ख. मैं जम्बूद्वीप में रहता हूं।

क. जम्बूद्वीप में अनेक क्षेत्र हैं। तुम किसमें रहते हो?

ख. मैं भरत क्षेत्र में रहता हूं।

क. दक्षिणार्ध भरत में रहते हो या उत्तरार्ध भरत में?

ख. मैं दक्षिणार्ध भरत में रहता हूं।

क. दक्षिणार्ध भरत में अनेक ग्राम, नगर और पत्तन हैं। तुम कहां रहते हो?

ख. मैं पाटलिपुत्र में रहता हूं।

क. पाटलिपुत्र में अनेक घर हैं। क्या तुम उन सब घरों में रहते हो?

ख. मैं देवदत्त के घर में रहता हूं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

क. देवदत्त के घर में अनेक कोठे हैं। तुम किस कोठे में रहते हो?
ख. मै गर्भगृह में रहता हूं।
क. क्या तुम पूरे गर्भगृह में रहते हो?
ख. मै बिछौने पर रहता हूं।
क. क्या तुम पूरे बिछौने पर रहते हो?
ख. मै जिन आकाश प्रदेशों में अवगाढ़ हूं, वहां रहता हूं। मै अपने शरीर में रहता हूं।
क. क्या तुम पूरे शरीर में रहते हो?
ख. मै अपने स्वरूप (आत्मप्रदेशों) में रहता हूं।

इस वसति दृष्टान्त के द्वारा आधार और आधेय की मीमांसा की गई है। नैगम नय की दृष्टि में आधार और आधेय का सम्बन्ध आवश्यक है, इसलिए आधारभूमि के आठ विकल्प प्रस्तुत किये गये हैं-

- मैं लोक में रहता हूं- यह वक्तव्यता सत्य है क्योंकि उत्तरदाता का निवास स्थान लोक में ही है किन्तु यह दृष्टिकोण वास्तविक वसति से बहुत दूर है अतः यह अविशुद्ध दृष्टिकोण है।
- मैं तिर्यक् लोक में रहता हूं-यह वास्तविक वसति से कुछ निकट होने के कारण विशुद्ध दृष्टिकोण है।

इसी प्रकार जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, दक्षिणार्ध भरत, पाटलिपुत्र, देवदत्तगृह और गर्भगृह में क्रमशः वास्तविक वसति की निकटता बढ़ती जाती है और उत्तरोत्तर विशुद्धतरता भी बढ़ती जाती है।

3.10 यवहार नय

इसकी वक्तव्यता नैगम नय के समान है।

3.11 संग्रह नय

यह नय निर्विकल्प होता है इसलिए उत्तरदाता कहता है कि मैं बिछौने पर रहता हूं।

3.12 ऋजुसूत्र नय

मैं जिन आकाश प्रदेशों में अवगाढ़ हूं, वहां रहता हूं-यह इस नय का निरूपण है।

3.13 शब्दनयत्रयी

शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत इस नयत्रयी का दृष्टिकोण वास्तविक वसति का दृष्टिकोण है। इस नयत्रयी का निरूपण है-मैं आत्मस्वरूप (आत्मभाव) में रहता हूं। इस त्रयी के अनुसार सब द्रव्य निरालम्ब अथवा स्वप्रतिष्ठ होते हैं। किसी द्रव्य के लिए आधार आवश्यक नहीं होता। वास्तव में वह अपने स्वरूप में ही रहता है।

3.14 प्रदेश दृष्टान्त

प्रकृष्ट देश का नाम प्रदेश है। निरंश देश, निर्विभागी भाग, अविभागी परिच्छेद ये प्रदेश के पर्यायवाची शब्द हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और एक जीव-ये अखण्ड द्रव्य हैं। देश उसका कल्पित भाग है तथा प्रदेश उसका परमाणु जितना भाग है, प्रदेश दृष्टान्त में अवयव और अवयवी के सम्बन्ध की मीमांसा की गई है। यथा—

3.15 नैगम नय

नैगम नय कहता है-छहों का प्रदेश-धर्म का प्रदेश, अधर्म का प्रदेश, आकाश का प्रदेश, जीव का प्रदेश, स्कन्ध का प्रदेश और देश का प्रदेश।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

(नैगम नय सामान्य और विशेष दोनों को मान्य करता है। इसलिए धर्म आदि छहों के प्रदेश को स्वीकृत करता है।)

3.16 संग्रह नय

संग्रहनय कहता है-तुम कहते हो 'छहों का प्रदेश'-यह मुझे मान्य नहीं है। जो देश का प्रदेश है, वह उसी द्रव्य का है। इसलिए यह कहो कि 'पाचों का प्रदेश।' इसे एक दृष्टान्त से समझो-मेरे दास ने गधा खरीदा, दास भी मेरा है और गधा भी मेरा है।

(संग्रह नय के अनुसार देश कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है, इसलिए वह 'देश का प्रदेश' इस विकल्प को स्वीकार नहीं करता। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों से सम्बन्धित देश का जो प्रदेश है, वह उन द्रव्यों का ही प्रदेश है क्योंकि वह देश उससे भिन्न नहीं है।)

3.17 व्यवहार नय

व्यवहार नय कहता है- तुम जो पांचों का प्रदेश कहते हो वह उचित नहीं है। एक ही प्रदेश पांचों द्रव्यों से सम्बन्धित हो तब यह कथन उचित हो सकता है। जैसे पांच भाइयों का सोना,घर, बगीचा आदि।

यहां पांचों द्रव्यों के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं इसलिए द्रव्य और लक्षण की संख्या के आधार पर यह कहो-'पांच प्रकार का प्रदेश जैसे-धर्म का प्रदेश, अधर्म का प्रदेश, आकाश का प्रदेश, जीव का प्रदेश और स्कन्ध का प्रदेश।

3.18 ऋजुसूत्रनय

व्यवहार नय के ऐसा कहने पर ऋजुसूत्र नय कहता है-तुम जो पांच प्रकार का प्रदेश कहते हो, वह उचित नहीं है। पांच प्रकार का प्रदेश मानने से उसके पच्चीस भेद हो जाएंगे। प्रत्येक प्रदेश के पांच प्रकार पांच द्रव्य प्रदेशों से गुणित होने पर पच्चीस होते हैं। इसलिए मत कहो 'पांच प्रकार का प्रदेश।' यह कहो-प्रदेश धर्म आदि पांच विभागों से विकल्पनीय है।

स्यात् धर्म का प्रदेश, स्यात् अधर्म का प्रदेश, स्यात् आकाश का प्रदेश, स्यात् जीव का प्रदेश और स्यात् स्कन्ध का प्रदेश है। इस प्रकार मानने से प्रदेश के पांच भेद घटित हो जाते हैं।

3.19 शब्दनय

ऋजुसूत्र नय के अभिमत से अपनी असहमति प्रकट करता हुआ शब्द नय कहता है-तुम्हारे मत में प्रदेश विकल्पनीय (भाज्य) है तो इस विकल्प की स्थिति में धर्मास्तिकाय का प्रदेश भी स्यात् धर्म का प्रदेश, स्यात् अधर्म का प्रदेश, स्यात् आकाश का प्रदेश आदि हो सकता है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय का प्रदेश धर्मास्तिकाय का हो सकता है, आकाश का प्रदेश भी जीव का प्रदेश हो सकता है। जैसे कोई व्यक्ति कभी राजाका सेवक हो जाता है और कभी अमात्य हो जाता है। नियत व्यवस्था के अभाव में प्रदेश के साथ भी यही घटित होगा। इस प्रकार अनवस्था हो जाएगी।

इसलिए 'मत कहो प्रदेश भाज्य है।' यह कहो-जो धर्मात्मक प्रदेश है, धर्मास्तिकाय से अभिन्न प्रदेश है, वह प्रदेश धर्म है। जो अधर्मात्मक प्रदेश है, वह प्रदेश अधर्म है। जो आकाशात्मक प्रदेश है, वह प्रदेश आकाश है। जो जीवात्मक प्रदेश है, वह प्रदेश जीव है। जो स्कन्धात्मक है, वह प्रदेश नोस्कन्ध है।

(यहां 'नो' शब्द देशवाचक है। जीव और स्कन्ध संख्या में अनन्त हैं। इनका प्रदेश जीवत्व और स्कन्धत्व से अभिन्न न होने के कारण जीवात्मक प्रदेश नोजीव है, स्कन्धात्मक प्रदेश नोस्कन्ध है। एक जीव का प्रदेश सकल जीव में व्याप्त नहीं है इसलिए वह उसके एक भाग में है अर्थात् जीव का एक देश है।

3.20 समभिरूढ़

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शब्द नय के ऐसा कहने पर समभिरूढ़ नय कहता है-तुम जो कहते हो, जो धर्मात्मक प्रदेश है, वह प्रदेश धर्म है, वह उचित नहीं है। क्योंकि यहां दो समास होते हैं-तत्पुरूष और कर्मधारय। तुम किस समास से कहते हो? यदि तत्पुरुष समास से कहते हो तो यह मत कहो। यदि कर्मधारय समास से कहते हो तो विशेषण सहित कहो। जैसे-प्रदेश जो धर्मात्मक है वह प्रदेश धर्म है इत्यादि।

(धर्म-प्रदेश शब्द में दो समास संभावित हैं। धर्मे प्रदेशः-इस विग्रह वाक्य में तत्पुरुष समास है। धर्मश्चासौ प्रदेशश्च-इसमें कर्मधारय समास है। तत्पुरुष समास भेद और अभेद दोनों में होता है। जैसे-'कुण्डे बदराणि,' 'राज्ञः पुरुषः' भेदपरक समास है। 'घटे रूपम', राज्ञः शरीरम् अभेदपरक है। 'धर्मे प्रदेशः' इसमें तत्पुरुष समास होने से भेद और अभेद का संदेह हो सकता है। इसलिए समभिरूढ़ नय विशेषण सहित कर्मधारय को स्वीकार करता है।)

3.21 एवंभूत नय

समभिरूढ़ के ऐसा कहने पर सम्प्रति एवंभूत नय कहता है-जिस धर्मास्तिकाय आदि के सम्बन्ध में तुम जो कहते हो वह सब कृत्स्न, प्रतिपूर्ण, निरवयव और एक शब्द के द्वारा अभिधेय है क्योंकि मेरी दृष्टि में देश भी वास्तविक नहीं है और प्रदेश भी वास्तविक नहीं है।

(एवंभूत नय का अभिमत है द्रव्य अखण्ड होता है। उसमें देश और प्रदेश की कल्पना करना व्यर्थ है। इसलिए देश भी अवास्तविक है, प्रदेश भी अवास्तविक है।)

नैगम नय अवयव और अवयवी के सम्बन्ध को मान्य करता है। एवंभूत नय द्रव्य के अवयवों को अस्वीकार करता है।

सूत्रकार ने तीन दृष्टान्तों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

इस प्रकार जो अनेक प्रमाणों से वस्तु का ज्ञान करता है, वह नैगम नय है। संग्रह नय संगृहीत और पिण्डित अर्थ को संक्षेप में बताता है।

व्यवहार नय सब द्रव्यों के विनिश्चित अर्थ का अनुगमन करता है।

ऋजुसूत्र नय प्रत्युत्पन्न का ग्रहण करता है। शब्द नय को ऋजुसूत्र की अपेक्षा विशेषित प्रत्युत्पन्न इष्ट है। समभिरूढ़ नय के अनुसार वस्तु का संक्रमण एक शब्द का दूसरे पर्यायवाची शब्द में गमन अवस्तु हो जाता है।

एवंभूत नय शब्द और अर्थ इन दोनों को विशेषित करता है-जल आहरण की क्रिया में परिणत घट को ही घट शब्द के द्वारा वाच्य मानता है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि नय वस्तु के विभिन्न धर्मों और विभिन्न नियमों को सापेक्ष दृष्टि से जानने की प्रक्रिया है। सिद्धसेन दिवाकर ने रत्नावलि के दृष्टान्त से जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने हाथी और चक्षुहीन-चक्षुष्मान् व्यक्ति तथा रत्नावलि के दृष्टान्त से नयवाद को समझाया ळें

(देखें षष्ठ पत्र इकाई 2 पाठ 4 'नयविचार' तथा विशेषावश्यकभाष्य गाथा 2269-2271)

3.22 नय और सामायिक

आगम व्याख्या सहित्य में सामायिक को विभिन्न नयों से समझाया गया है। सामायिक (समताधर्म) के तीन प्रकार हैं-

1. सम्यक्त्व सामायिक-तत्वश्रद्धा
2. श्रुत सामायिक-जीव आदि का परिज्ञान।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. चारित्र सामायिक-सावद्ययोग विरति।

ज्ञान नय को सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक अनुमत है। ज्ञानात्मक होने के कारण वे मुख्यतः मुक्ति के कारण है। क्रिया नय को चारित्र सामायिक अनुमत है। क्रियारूप होने के कारण ये ही मुख्यतः मुक्ति के कारण हैं।

द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से गुणप्रतिपन्न जीव सामायिक हैं। पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से सम्यक्त्व, श्रुत और चारित्र-ये गुण सामायिक हैं।

नैगम नय के अनुसार सामायिक अध्ययन को पढ़ने के लिए उद्दिष्ट शिष्य यदि वर्तमान में सामायिक नहीं कर रहा है, तब भी वह सामायिक है। यह भावी नैगम नय का विषय है।

संग्रह नय और व्यवहार नय के अनुसार सामायिक अध्ययन को पढ़ने के लिए गुरु के चरणों में उपासीन शिष्य सामायिक है। ऋजुसूत्र नय के अनुसार अनुपयोगपूर्वक सामायिक अध्ययन को पढ़ने वाला शिष्य सामायिक है।

शब्द आदि तीनों नयों के अनुसार शब्द क्रिया से वियुक्त सामायिक में उपयुक्त शिष्य सामायिक है क्योंकि इन नयों की दृष्टि में विशुद्ध परिणाम ही सामायिक है।

3.23 सारांश – उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि जैन नय ज्ञान अपेक्षित है।

3.24 प्रश्नावली

1. निबंधात्मक प्रश्न

1. प्रदेश दृष्टान्त को समझाइये।

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. नैगम नय के तीन भेद प्रस्थक दृष्टान्त से बतायें।
2. वसति दृष्टान्त के विकल्प प्रस्तुत करें।

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. ....नय से क्रियमाण को कृत कहा जा सकता है।
2. द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं-1., 2., 3.।
3. मैं बिछौने पर रहता हूं-यह........नय की वक्तव्यता है।
4. वसति दृष्टान्त द्वारा ....और..........की मीमांसा की गई है।
5. एवंभूत नय द्रव्य के........को अस्वीकार करता है।
6. शब्दनयत्रयी के अनुसार प्रत्येक द्रव्य अपने ....में ही रहता है।
7. जिनभद्रगणी ने नैगम नय के प्रसंग में तीन दृष्टान्तों का उल्लेख किया है-1., 2., 3,।
8. ....तथा ....ने रत्नावलि का दृष्टान्त दिया है।
9. एवंभूत नय के अनुसार सामायिक में ....शिष्य सामायिक है।
10. ....नय लोक व्यवहार को मान्य करता है।

*****

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–4 : नय विचार

संरचना

4.0 भूमिका
4.1 उद्देश्य
4.2 नय का अर्थ
4.3 नय के भेद
  4.3.1 नैगम नय
  4.3.2 संग्रह नय
  4.3.3 व्यवहार नय
  4.3.4 ऋजुसूत्र नय
  4.3.5 शब्द नय
  4.3.6 समभिरूढ़ नय
  4.3.7 एवंभूत नय
4.4 नय विचार की महत्ता
4.5 नय : विषय परिमाण
4.6 सारांश
4.7 अभ्यास प्रश्नावली

4.0 प्रस्तावना

प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है। सामान्य व्यक्ति उसे एक साथ जान भी नहीं सकता। सर्वज्ञ उसे एक साथ जान सकते हैं पर उसके अनन्त धर्मों का युगपत् प्रतिपादन करना उनके लिए भी शक्य नहीं है क्योंकि वाणी व्यापार से सीमित प्ररूपण ही हो सकता है। वस्तु के बोध को समग्रता से कथन करने की मुख्यतः दो विधियां हो सकती हैं—

- वस्तु के अनन्त धर्मों में अभेदोपचार करके उसके एक धर्म का स्यात् शब्द से युक्त प्रतिपादन।
- वस्तु के अनन्त धर्मों की सापेक्षता को दृष्टिमध्य रखकर एक धर्म का प्रतिपादन और दूसरे धर्मों का अनिराकरण।

जैन दर्शन में प्रथम विधि स्याद्वाद अथवा प्रमाण-वाक्य और द्वितीय विधि सद्वाद या नय वाक्य के नाम से विश्रुत है। जिस प्रकार शास्त्र के निर्माण का आधार अकार, आकार आदि अक्षर हैं, लोकोत्तर साधना का आधार सम्यक् दर्शन—विधेयात्मक दृष्टिकोण है, विभिन्न धातुओं की शुद्धि का आधार पारा है ठीक उसी प्रकार नयवाद अनेकान्त का मूल आधार है। वस्तु में अनन्त विरोधी धर्म अपना विरोध त्याग कर साथ रह सकते हैं—सहावस्थान कर सकते हैं पर नित्यत्व-अनित्यत्व, सामान्य-विशेष, वाच्यत्व-अवाच्यत्व, अस्तित्व-नास्तित्व आदि धर्मों का एक साथ निरूपण करना शक्य न होने से उनका विश्लेषण करना होता है। विश्लेषण के साथ सापेक्ष दृष्टि से प्रतिपादन नयवाद के माध्यम से ही संभव है। वस्तु स्वरूप के पूर्ण और यथार्थ ज्ञान एवं प्रतिपादन के लिए उसके विभिन्न पहलुओं को जानना, समझना तथा एक विशिष्ट परिस्थिति—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में उसके अन्य धर्मों को अस्वीकार न करते हुए एक धर्म का प्रतिपादन करना नय विचार की महत्ता है। एक धर्म का ज्ञान और एक धर्म का वाचक शब्द ये दोनों क्रमशः नय और नय वाक्य कहलाते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.1 उद्देश्य–नय जैनदर्शन का एक विशेष शब्द है इसके सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए इस पाठ में हम निम्नलिखित बिन्दुओं का अध्ययन करेंगे।

4.2 नय का अर्थ

नयवाद जैनदर्शन का अपना असामान्य अवदान है। जैन आगमों में नय विषयक चर्चा बहुलता से प्राप्त होती है। शायद ही कोई ऐसा आगम ग्रन्थ होगा जिसमें किसी–न–किसी रूप में नयवाद का प्रवेश न हो। **अनुयोगद्वारसूत्र**—जो विशाल पूर्व साहित्य को समझने की कुंजी है, उसमें अनुयोग (व्याख्या) रूपी महानगर के प्रवेश के चार मुख्य द्वार बतलाये गए हैं—उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय। आगमकाल में प्रतिपादन की अन्य शैलियां प्रचलित थीं पर परिभाषात्मक शैली अपेक्षाकृत कम प्रचलित थी। यही कारण है कि आगम ग्रन्थों में हमें नय, ज्ञान, अनेकान्त, तत्त्व आदि की परिभाषाएं उपलब्ध नहीं होती।

नय शब्द णींन् प्रापणे धातु और अच् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर नय का अर्थ है—प्राप्त करना, बोध कराना अर्थात् जो वस्तु को प्राप्त करवाता है, सम्यक् बोध करवाता है वह नय है। वाचक **उमास्वाति** के अनुसार नय का अर्थ है अध्यवसाय विशेष। **आचार्य हरिभद्र** ने भी वस्तुबोध के हेतुभूत अध्यवसाय को नय कहा है। एक ही वस्तु या विषय के संदर्भ में अनेक दृष्टियां या मन्तव्य हो सकते हैं। अतः नय का तात्पर्य है—अर्थ को अपेक्षा भेद से जानने वाला ज्ञाता का अभिप्राय।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने नय शब्द की व्युत्पत्ति में कर्त्ता, कर्म, भाव, संबंध, अधिकरण आदि अनेक दृष्टियों से विचार किया है। उनके अनुसार वक्ता जिन संभावित पर्यायों से अपने अभिप्राय का बोध करवाता है, जिससे वस्तु का बोध होता है अथवा विभिन्न पर्यायों की संभावना के साथ एक पर्याय का बोध कराना नय है। धवलाकार के अनुसार ज्ञाता का अभिप्राय विशेष नय है जो वस्तु को ठीक निर्णय तक पहुंचा देते हैं। अकलंक के अनुसार प्रमाण के द्वारा ज्ञात वस्तु के एक देश का निश्चय करने वाला अभिप्राय नय है।

आचार्य तुलसी के अनुसार

अनिराकृते तरांशो वस्त्वंशग्राही प्रतिपत्तुरभिप्रायो नयः।

वस्तु के इतर अंशों (अन्य धर्मों) का निराकरण न कर ज्ञाता के विवक्षित अंश का ग्रहण करने वाला अभिप्राय नय है। इस प्रकार नय ज्ञान के मुख्यतः दो लक्षण हैं—

- विवक्षित धर्म का प्रतिपादन।
- अविवक्षित धर्मों का निराकरण न करना।

जिस अभिप्राय में दूसरा लक्षण घटित नहीं होता उसे दुर्नय या नयाभास कहते हैं।

सिद्धसेन दिवाकर ने नय का स्वरूप समझाने के लिए रत्नावली का दृष्टान्त दिया है। एक जौहरी के पास वैडूर्य, लोहिताक्ष आदि अनेक प्रकार के रत्न हैं किसी में विष दूर करने की विशेषता है, किसी में समृद्ध बनाने की क्षमता है। सबका अपना–अपना मूल्य है। पर उनका मूल्य उस समय अनेक गुणा बढ़ जाता है जब उन सबको एक विशेष संयोजना के साथ एक सूत्र में पिरो दिया जाता है। इसी प्रकार अनेक प्रकार के अभिप्राय जब एक साथ सापेक्षता और समन्वय के सूत्र में गुंफित होते हैं तब वे सुनय कहलाते हैं उनका मूल्य कई गुना बढ़ जाता है अन्यथा वे दुर्नय कहलाते हैं। **विशेषावश्यक भाष्य** में नय को समझाने के लिए हाथी और चक्षुहीन व्यक्तियों का दृष्टान्त दिया गया है। जब तक व्यक्ति हाथी के एक अवयव को संपूर्ण हाथी समझता रहता है तब तक उसका सत्यज्ञान भी मिथ्या रहता है, विग्रह का हेतु बनता है। एक चक्षुष्मान व्यक्ति के समान नयवाद को जानने वाला प्रज्ञावान् उन विरोधी दृष्टिकोणों में समन्वय स्थापित करके सबको समाहित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कर देता है। उसका सत्य ज्ञान सुनय है। **जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण** ने राजा और भृत्य के उदाहरण से भी नयवाद को समझाया है।

4.3 नय के भेद

संसार का प्रत्येक पदार्थ अनन्त विरोधी धर्मों का समवाय है। केवलज्ञान के द्वारा उन सब धर्मों को युगपत् जाना जा सकता है पर वाणी का विषय सीमित होता है अत: कोई भी अभिव्यक्ति अभिप्राय विशेष की अपेक्षा से ही होती है। अनन्त व्यक्ति और प्रत्येक व्यक्ति के अनन्त-अनन्त अभिप्राय, दृष्टिकोण। अत: वचन के प्रकार भी अनन्त हो सकते हैं। इसीलिए जैन आचार्यों के अनुसार नय के अनन्त प्रकार हो सकते हैं—**'जावइया वयणपहा तावइया चेव होंति णयवाया।'** जितने सार्थक कथन हैं उतने ही नय हो सकते हैं। फिर भी संक्षेप में नय के दो प्रकार होते हैं—

- द्रव्यार्थिक नय—अभेदग्राही दृष्टिकोण,
- पर्यायार्थिक नय —भेदग्राही दृष्टिकोण।

आचार्य सिद्धसेन ने अनेकान्त के प्रतिपादन की पृष्ठभूमि के रूप में नयवाद का विचार किया है उस प्रसंग में उन्होंने **सन्मति तर्क प्रकरण** में लिखा है—

तीर्थंकरों के वचन सामान्य और विशेष रूप होते हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय क्रमश: इन्हीं दोनों राशियों को प्रतिपादित करते हैं अत: मूल नय ये दो हैं, शेष सभी इन्हीं के पर्याय हैं।

जैन दर्शन के अनुसार सत् का लक्षण है—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। कोई भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से रहित नहीं होता और न कोई ध्रौव्य उत्पाद, व्यय से रहित होता। उत्पाद-व्यय पर्यायधर्म है और ध्रौव्यांश द्रव्य का द्योतक है। पर्याय को मुख्यता प्रदान करने वाला अभिप्राय पर्यायार्थिक नय है और द्रव्य को मुख्यता देने वाला नय द्रव्यार्थिक। पर्याय अनन्त होते हैं, उनमें परस्पर भेद होता है, पर्याय के आधार पर एक ही जीवद्रव्य—मनुष्य, तिर्यञ्च, देव, बालक, वृद्ध आदि अनेक रूपों में प्रतिभासित होता है। अत: पर्यायार्थिक नय का विषय है भेद। द्रव्य सामान्य होता है। सामान्य धर्मों की अपेक्षा दो द्रव्यों में कोई भेद नहीं होता। अत: सामान्य अथवा अभेद का ग्राहक है द्रव्यार्थिक नय। इसी दृष्टिबिन्दु से हम बालक और वृद्ध में मनुष्यत्व की, मनुष्य और तिर्यंच में जीवत्व की और जीव और अजीव में द्रव्यत्व की प्रतीति करते हैं समानता को देख, समझ पाते हैं। फिर भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं होता जिसमें केवल द्रव्य ही हो, पर्याय नहीं हो अथवा सामान्य धर्म ही हो, विशेष धर्म नहीं हो। प्रत्येक सत् द्रव्यपर्यायात्मक होता है, सामान्य विशेषात्मक होता है, नित्यानित्य होता है। अत: एकान्त द्रव्यार्थिक या एकान्त पर्यायार्थिक नय सत्य को जानने का साधन नहीं, सत्य को जानने के लिए दोनों की समन्विति और सापेक्षता जरूरी है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि कथनीय वस्तु के मुख्यत: दो भेद हैं—द्रव्य और पर्याय। अत: उसके आधार पर द्रव्य को मुख्य बनाकर जानना द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय को मुख्य बनाकर जानना पर्यायार्थिक नय है। सत्य के दो प्रकार हैं—वास्तविक सत्य और औपचारिक सत्य।

- वास्तविक सत्य को मुख्य मानने वाला नय है—निश्चयनय।
- औपचारिक सत्य को मुख्य मानने वाला नय है—व्यवहारनय।

अभिप्राय को व्यक्त करने के साधन दो हैं—अर्थ और शब्द। अत: इस विवक्षा से नय के दो भेद हैं—शब्दनय और अर्थनय। इस प्रकार भिन्न-भिन्न आधारों से चिन्तन करने पर नय के भिन्न-भिन्न प्रकार हो जाते हैं पर जैन दर्शन में नय के सात भेद सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। अत: प्रस्तुत अध्याय में उनकी अपेक्षाकृत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विस्तार से चर्चा करना अभीष्ट है। वे सात भेद हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। **अनुयोगद्वारसूत्र** में इन सातों को एक-एक गाथा के द्वारा निरूपित किया गया है।

4.3.1 नैगम नय

आर्यरक्षित ने नैगम नय की निरूक्तिपरक व्याख्या करते हुए लिखा है—**'णेगेहिं माणेहिं मिणइत्ति णेगमस्स य निरूत्ती।'** अर्थात् नैगमनय अनेक ज्ञानों (दृष्टिकोणों) से वस्तु को जानता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह वस्तु का उभयरूप—सामान्यरूप और विशेषरूप से ग्रहण करता है। इसीलिए **भिक्षुन्यायकर्णिका** में इसकी परिभाषा की गई—भेदाभेदग्राही नैगमः। नैगम नय भेद और अभेद—सामान्य और विशेष दोनों अंशों का संयुक्त रूप में निरूपण करता है। अतः सामान्य और विशेष को स्वतंत्र पदार्थ मानने वाली वैशेषिक-दृष्टि से उसकी भिन्नता स्पष्ट है। वह वस्तु के एक अंश का ग्रहण करता है संपूर्ण वस्तु का नहीं। अतः प्रमाण से उसका भेद स्पष्ट है। प्रमाण सकलादेश है उसमें सब धर्मों को मुख्य स्थाान मिलता है। नैगम नय विकलादेश है इसमें समान्य मुख्य होने पर विशेष गौण रहता है और विशेष मुख्य होने पर सामान्य गौण हो जाता है। 'चेतन में आनन्द है'—यहां आनन्द अर्थात् पर्याय या भेद की मुख्यता है और 'आनन्दी जीव की बात ही छोड़िए' इसमें जीव अर्थात् द्रव्य की मुख्यता है। इसी प्रकार गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-कारक, जाति-जातिमान् आदि की व्यंजना का प्रतिपादक है नैगम नय।

नैगम नय का दूसरा आधार है लोकव्यवहार। लोकव्यवहार में शब्दों के जितने और जैसे अर्थ माने जाते हैं यह उन सबको ग्रहण करता है।

नैगम का तीसरा आधार है—संकल्प। यह भाव और अभाव दोनों का ग्रहण करता है। संकल्प अर्थात् आरोप। भूतकाल बीत चुका, भविष्य अभी अनुत्पन्न है फिर भी उनमें वर्तमान का आरोप कर दिया जाता है। भूतकाल का वर्तमान में आरोप नहीं होता तो आज न कोई महावीर का जन्मदिवस मना सकता और न तुलसी का। रसोइया खाना बनाने बैठा है फिर भी वह कहता है—रोटी पकाई है यह कथन भी भावी नैगम नय है। इसी प्रकार क्षमता, योग्यता आदि के आधार पर अकवि को कवि, अविद्वान् को विद्वान् कह दिया जाता है। **अनुयोगद्वारसूत्र** में प्रस्थक दृष्टान्त के द्वारा इसके अविशुद्ध, विशुद्ध, विशुद्धतर आदि अनेक रूपों का सुन्दर निरूपण हुआ है। सिद्धसेन दिवाकर ने इसकी स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार न षड्नय की परम्परा प्रारम्भ की।

4.3.2 संग्रह नय

ज्ञाता का वह अभिप्राय जो वस्तु में विद्यमान अनेक धर्मों में एकत्व स्थापित करता है, अनेक वस्तुओं के भेद को गौण कर अभेद की स्थापना करता है। आचार्यश्री तुलसी ने संग्रह नय की परिभाषा करते हुए लिखा है—**अभेदग्राही संग्रहः**। अनेक स्त्री पुरुष खड़े हैं, अभेद का ग्रहण करते हुए मनुष्य खड़े हैं कह सकते हैं। एक स्थान पर मनुष्य, पशु, पक्षी सब एकत्रित हैं—संग्रह नय से जीव है कह सकते हैं। जीव और अजीव सब द्रव्यों में भी अस्तित्व धर्म की समानता है अतः अभेद की अपेक्षा से उन्हें सत् में ग्रहण किया जा सकता है। इसीलिए परसंग्रह नय की विवक्षा में—विश्व एक है क्योंकि अस्तित्व की दृष्टि से कोई भिन्न नहीं है। **'विश्वमेकं सतोऽविशेषात्।'** वस्तुतः परसंग्रहनय ही द्रव्यार्थिक नय की शुद्ध प्रकृति है। अवान्तर सामान्य की सत्यता को दृष्टिमध्य रखते हुए अपरसंग्रह नय को भी संग्रहनय कहते हैं। यह द्रव्य, पर्याय, गुण, जीव आदि अपर सत्ताओं को ग्रहण करता है। इस प्रकार भेद रहित समस्त पर्यायों या विशेषों को अपनी जाति के अविरोध पूर्वक एक मानकर सामान्य धर्म के आधार पर सबको ग्रहण करने वाली दृष्टि संग्रह नय है। आगमों में निर्दिष्ट **'एगे आया' 'एगे दण्डे'** आदि प्रतिपादन इसी दृष्टि के सूचक हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संग्रह नय की दृष्टि से विचार करने पर अद्वैतवादी परम्पराओं में प्राप्त होने वाले अभेद के प्रतिपादन की सत्यता स्पष्ट हो जाती है। भेद केवल इतना है कि संग्रह नय अभेद का प्रतिपादन करके भी भेद को मिथ्या नहीं कहता अत: सुनय है और अद्वैतवाद भेद को मिथ्या मानकर उसका अपलाप करते हैं अत: वे दुर्नय या संग्रहनयाभास हैं। भेद के बिना अभेद का भी अस्तित्व नहीं, अत: भेद का अपलाप करने से अभेद का अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाता है, वस्तु का यथार्थ बोध नहीं होता।

4.3.3 व्यवहार नय

व्यवहार नय का आधार है—वस्तु में निहित विशेष धर्म। यह नय भेदपरक दृष्टि है। संग्रहनय जहां जीव, द्रव्य आदि का संग्रहण करता है वहां व्यवहार नय जीव में सिद्ध और संसारी, व्यवहारराशि और अव्यवहारराशि, जंगम और स्थावर आदि भेद करता है। इस प्रकार संग्रहनय द्वारा गृहीत पदार्थों का विधिपूर्वक अवहरण करने वाला नय व्यवहार नय है। **आचार्यश्री तुलसी** के अनुसार—**'भेदग्राही व्यवहार:।'**—भेद (विशेष) को ग्रहण करने वाला अभिप्राय व्यवहार नय है। जैसे जो सत् है उसके दो भेद हैं—द्रव्य और पर्याय। द्रव्य के छह भेद हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि।

संग्रह और व्यवहार—ये दोनों दृष्टियां समान्तर रेखा पर चलने वाली हैं पर इनका गतिक्रम विपरीत है। संग्रह दृष्टि सिमटती चली जाती है और चलते-चलते एक हो जाती है। व्यवहार दृष्टि खुलती चली जाती है और चलते-चलते अनन्त हो जाती है। **जैनदर्शन: मनन और मीमांसा** में 'जीव' के उदाहरण के द्वारा बहुत ही सुन्दर एवं सरल ढंग से समझाया गया है कि किस प्रकार संग्रह नय भेद से अभेद की ओर गमन करता है और व्यवहार नय अभेद से भेद की ओर गमन करता है। **(देखें पृ.385 पर विद्यमान चार्ट)**

वस्तुत: जहां अस्तित्व का ज्ञान करना हो वहां तो अभेद से काम चल सकता है किन्तु संसार के व्यवहार मात्र अस्तित्व से नहीं चलते, वहां उपयोगिता की चर्चा करनी होती है। उपयोगिता के लिए भेद का अवलम्बन अनिवार्य है। सत् करने मात्र से जीव अथवा अजीव का निर्णय नहीं होता और उसके बिना जीव का व्यवहार नहीं चलता। व्यवहार नय भेद को महत्त्व देता है पर अभेद का निराकरण नहीं करता। यदि अभेद का सर्वथा निराकरण कर दे तो उसे व्यवहार नयाभास कहना होगा।

4.3.4 ऋजुसूत्र नय

यह वर्तमान परक दृष्टि है। यह अतीत और भविष्य की वास्तविक सत्ता स्वीकार नहीं करती। अतीत की क्रिया नष्ट हो चुकी, भविष्य अभी उत्पन्न नहीं हुआ इसलिए न अतीतकालीन वस्तु अर्थक्रिया में समर्थ होती और न भविष्यकालीन वस्तु ही हमारे अभी काम की है। इसीलिए यह वर्तमान में होने वाली अर्थपर्याय को ही अपना विषय बनाता है। **भिक्षु न्यायकर्णिका** में इसको परिभाषित करते हुए लिखा गया है—

'वर्तमानपर्यायग्राही ऋजुसूत्र:।'

ज्ञाता का वह अभिप्राय जो केवल वर्तमान की पर्याय को ही ग्रहण करे, वह ऋजुसूत्र नय है। जैसे—'वर्तमान में सुख है।' इस वाक्य में प्रत्युत्पन्नवर्ती सुख की ही मुख्यता है उसके अधिकरणभूत जीव गौण हो गया है।

ऋजुसूत्रनय संग्रहनय से विपरीत विशुद्ध क्षणिकवादी है। **सिद्धसेन दिवाकर** ने इसे पर्यायार्थिक नय की विशुद्ध प्रकृति कहा है। यद्यपि व्यवहार नय भी भेदमुख्य दृष्टि है परन्तु उसके द्वारा गृहीत भेद भी एक दृष्टि से अभेद का सूचक है। ऋजुसूत्र नय में व्यवहार नय की अपेक्षा भी भेद प्रमुख हो जाता है। क्योंकि वह कालगत अभेद को भी स्वीकार नहीं करता। व्यवहार नय की दृष्टि से तुला अतीत में भी तुला थी, निकट भविष्य में भी तुला ही रहेगी पर ऋजुसूत्र नय के अनुसार तुला तभी तुला है जब उससे तोला जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सामान्य भाषा में हम कहते हैं पलाल जलता है। 'पलालदाह' यह वस्तुतः ऋजुसूत्र नय से ठीक नहीं। ऋजुसूत्र नय के अनुसार जब पलाल है तब जलता नहीं और जब जलता है तब पलाल नहीं। इस प्रकार ऋजुसूत्र दृष्टि से क्षणक्षयवाद की सिद्धि होती है जिसकी तुलना बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद से कर सकते हैं। अन्तर केवल इतना ही है बौद्धदर्शन उस पर्याय में अनुस्यूत द्रव्य का अपलाप करता है जबकि ऋजुसूत्र नय पर्याय को मुख्यता देता हुआ भी द्रव्य का निराकरण नहीं करता। बौद्ध दर्शन क्षण की सिद्धि के लिए स्थायी सत्ता का खण्डन करता है। अतः वह ऋजुसूत्रनयाभास है।

ऋजुसूत्र नय के दो भेद हैं—शुद्ध ऋजुसूत्र और अशुद्ध ऋजुसूत्र। शुद्ध ऋजुसूत्र नय के अनुसार एक क्षणवर्ती अर्थपर्याय सत्य है अतः द्रव्य का लक्षण उत्पाद व विनाश है। अशुद्ध ऋजुसूत्र चक्षुग्राह्य व्यंजनपर्याय को भी ग्रहण करता है जो दीर्घकालिक होती है।

4.3.5 शब्द नय

हमारे व्यवहारों का महत्त्वपूर्ण आधार है—शब्द। शब्द के आधार पर अर्थ का ग्रहण करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय है शब्द नय। यह भिन्न-भिन्न लिंग, वचन, काल, कारक आदि से युक्त शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ स्वीकार करता है। यह शब्द, रूप और उसके अर्थ का नियामक है इसीलिए कहा गया—

काल, लिंग वचनादि से वाचक है भिन्नार्थ।
शाब्दिक संयोजन सुघड़, बने शब्दनय सार्थ।।

व्याकरण लिंग, वचन आदि की अनियामकता को यह प्रमाण नहीं करता। इसका अभिप्राय है—

1. पुल्लिंग का वाच्य अर्थ स्त्रीलिंग का वाच्य अर्थ नहीं बन सकता। पहाड़ का जो अर्थ है वह पहाड़ी शब्द से व्यक्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार नद और नदी का अर्थ भी एक नहीं हो सकता। क्योंकि जहां लिंगभेद होता है वहां अर्थभेद भी होता है जैसे पुत्र और पुत्री में।
2. एक वचन का जो वाच्यार्थ है वह बहुवचन का वाच्यार्थ नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो मीना छात्रा है के स्थान पर मीना छात्राएं हैं भी प्रयोग शुद्ध गिना जाता।

यह दृष्टि शब्द प्रयोग के पीछे छिपे इतिहास को जानने में बड़ी सहायक है। संकेत काल में शब्द, लिंग आदि की रचना प्रयोजन के अनुरूप बनती है। वह रूढ़ जैसी बाद में होती है। सामान्यतः हम स्तुति और स्तोत्र दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में करते हैं पर उनका अर्थ भिन्न-भिन्न है—स्तुति का अर्थ है एक श्लोक वाला भक्तिकाव्य, स्तोत्र का अर्थ है बहुत श्लोकों वाला भक्तिकाव्य।

शब्द नय द्वारा गृहीत पर्याय ऋजुसूत्र नय द्वारा गृहीत पर्याय से शुद्धतर होती है अतः वह उससे विशुद्धतर है। शब्द नय काल आदि के भेद से अर्थभेद मानता है पर जब उन्हें सर्वथा भिन्न ही मान लिया जाता है वह शब्द नयाभास है। शब्दनय उसे सापेक्ष दृष्टि से स्वीकार करता है।

4.3.6 समभिरूढ़ नय

पर्याये निरुक्तिभेदेनार्थभेदकृत् समभिरूढः।

विभिन्न पर्यायवाची शब्दों में निरुक्त के भेद से अर्थभेद का स्वीकार करने वाले नय को समभिरूढ़ नय कहा जाता है। जैसे भिक्षाशील होता है उसे भिक्षु कहते हैं। जो वाणी का संयम करता है उसे वाचंयम कहते हैं। जो तपस्या करता है उसे तपस्वी कहते हैं जबकि शब्दकोश में ये तीनों एक दूसरे के पर्यायवाची हैं, एकार्थक हैं। शब्दनय निरुक्त का भेद होने पर भी अर्थ के अभेद को स्वीकार करता है। समभिरूढ़ नय निरुक्त भिन्न होने पर अर्थ के अभेद को स्वीकार नहीं करता अतः वह शब्दनय से विशुद्धतर है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एक वस्तु का संक्रमण दूसरी वस्तु में नहीं होता। प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप में निष्ठ होती है। स्थूलदृष्टि से हम अनेक वस्तुओं के मिश्रण या सहस्थिति को एक मान लेते हैं किन्तु ऐसी स्थिति में भी प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वरूप में रहती है। विज्ञान के अनुसार एक ही समय में आकाश में एक साथ ऑक्सीजन, कार्बन डाइऑक्साइड, नाइट्रोजन आदि कितनी गैसें एक साथ रहती हैं पर क्या वे मिलकर एक हो जाती हैं। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु जहां आरुढ़ है उसे वहीं प्रयोग करना चाहिए। वैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से यह नय बहुत उपयोगी है।

शब्द और अर्थ का एक दूसरे से गहरा संबंध है। शब्द प्रयोग के अनुरूप अर्थबोध हो और अर्थबोध के अनुरूप शब्द प्रयोग हो—यह यथार्थज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण कसौटी है। समभिरूढ़ नय का आधार भी यही कसौटी है। जो शब्द विभिन्न अर्थों को छोड़कर प्रधानता से किसी एक अर्थ में रूढ़ हो जाता है वह समभिरूढ़ कहलाता है। जैसे—गौ शब्द के पृथ्वी, गाय, वचन आदि अनेक अर्थ हैं पर वह गाय के अर्थ में रूढ़ है। दूसरे दृष्टिकोण से—समान लिंग, वचन, काल, कारक वाले शब्दों में व्युत्पत्तिभेद से अर्थभेद को स्वीकार करने वाला अभिप्राय समभिरूढ़ नय है, जैसे घट, कुट और कुम्भ।

4.3.7 एवम्भूत नय

यह सर्वसूक्ष्मग्राही दृष्टिकोण है। यह क्रियाभेद के आधार पर अर्थभेद को स्वीकार करता है। इसमें शब्द प्रयोग के वैशिष्ट्य से अर्थ के वैशिष्ट्य का और अर्थ के वैशिष्ट्य से शब्द के वैशिष्ट्य का बोध होता है। आचार्यश्री तुलसी ने एवंभूत नय को परिभाषित करते हुए लिखा है—

क्रियापरिणतमर्थं तच्छाब्दवाच्यं स्वीकुर्वन्नेवंभूतः।

क्रिया की परिणति के अनुरूप ही शब्द प्रयोग का स्वीकार करने वाले नय को एवंभूत नय कहा जाता है जैसे—जब कोई साधु भिक्षा के लिए जाता है तभी वह भिक्षु कहलाने का अधिकारी है। मौन करते समय ही व्यक्ति वाचंयम होता है और तपस्या में प्रवृत्त साधु को ही तपस्वी कहते हैं।

समभिरूढ़ नय निरुक्त का भेद होने पर शब्द में अर्थ के भेद को स्वीकार करता है उस शब्द के प्रयोग के लिए क्रिया में प्रवृत्त होने को अनिवार्य नहीं मानता, जबकि एवंभूतनय शब्दगत क्रिया में प्रवृत्त अर्थ के लिए ही तद्वाचक शब्द प्रयोग को मान्य करता है अतः वह समभिरूढ़ नय की अपेक्षा सूक्ष्मतर है, उससे भिन्न अभिप्राय है।

स्वामी पूज्यपाद ने एवंभूत नय का विवेचन करते हुए लिखा है कि जो वस्तु जिस पर्याय को प्राप्त हुई है उसी रूप का निश्चय करने वाले नय को एवंभूत नय कहा जाता है। अतः जिस शब्द का जो वाच्य है उसके अनुरूप क्रिया के परिणमन काल में ही उस शब्द का प्रयोग करना संगत है अन्य समय-विभागों में नहीं। जैसे—जिस समय 'इन्द्र' अपनी आज्ञा का प्रयोग कर रहा हो, ऐश्वर्यवान हो उसी समय इन्द्र है। यदि वह भगवान् की वन्दना करने जा रहा है तो उस समय इन्द्र नहीं कहना चाहिए।

एक व्यक्ति जब अध्यापन करता है तभी अध्यापक कहना चाहिए, घर पर खाना खाते समय उसे अध्यापक, गुरु आदि शब्दों से युक्तियुक्त नहीं। इस प्रकार शब्द और अर्थ की सूक्ष्म विश्लेषणा करता है।

4.4 नयविचार की महत्ता

जब तक व्यक्ति का ज्ञान पूर्णतया निरावरण नहीं हो जाता वह समग्र सत्य को नहीं जान पाता। एक वस्तु, विषय या घटना को जानने के अनन्त पहलू होते हैं। एक व्यक्ति अपनी बुद्धि के अनुसार उनमें से कुछ को जान पाता है। ऐसी स्थिति में यदि वह अपने द्वारा ज्ञात तथ्य की सापेक्षता को नहीं जानता, दूसरे के कथन या ज्ञान की अपेक्षा को स्वीकार नहीं करता तो एक तरफ वह सत्यांश को ही सत्य समझ लेता है। फलतः

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उसका ज्ञान अत्यन्त सीमित हो जाता है, दूसरी ओर आपस में विचार भेद, मताग्रह एवं विग्रह की उत्पत्ति होती है।

भ्रान्ति का निरसन करने के लिए नयवाद का विकास आवश्यक है। कभी-कभी एक ही ग्रन्थ में एक विषय के परिप्रेक्ष्य में भिन्न-भिन्न संदर्भों में भिन्न-भिन्न प्रतिपादन उपलब्ध होते हैं। यदि व्यक्ति उनके पीछे छिपी अपेक्षा को नहीं जानता तो यथार्थ का बोध नहीं कर पाता, भ्रान्त हो जाता है।

नयविधि को जानने वाला व्यक्ति अपने विचार की सत्यता को जानते हुए अन्य विचारों के प्रति भी सापेक्ष दृष्टिकोण रखता है। अतः वह ज्ञेय के विषय में संमूढ नहीं बनता और सिद्धान्त की आशातना भी नहीं करता है। इस प्रकार नयज्ञान सम्यक्त्व-परिशुद्धि का मार्ग है।

माइल्लधवल के अनुसार नय का ज्ञान यथार्थ बोध का माध्यम है। यथार्थ ज्ञान से दृष्टिकोण सम्यक् बनता है। सम्यक् बोध और सम्यक् दृष्टि का चारित्र आराधना का हेतु है। अतः परम्पर रूप से नय मोक्ष का उपाय है।

4.5 नय : विषयपरिमाण

उपर्युक्त सातों नय परस्पर सापेक्ष दृष्टिकोण हैं। इनमें एक ही वस्तु के विभिन्न रूपों को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से ग्रहण किया जाता है। इनका विचार क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है। अतः विषय की व्यापकता भी क्रमशः अल्पतर होती जाती है।

नैगम संकल्पग्राही अभिप्राय है। संकल्प सत् और असत् दोनों का ही हो सकता है अतः भाव और अभाव दोनों ही इसके विषय बनते हैं।

संग्रह सत्ता मात्र को अपना विषय बनाता है अतः उसका विषय नैगम की अपेक्षा अल्प हो जाता है।

व्यवहार नय भेदग्राही है। वह अभेद की उपेक्षा करता है। इस प्रकार सत्ता के अंश को ग्रहण करने से उसका विषय संग्रह से अल्पतर है।

व्यवहार भेदग्राही अभिप्राय होने पर भी त्रैकालिक भेद का ग्राहक है। ऋजुसूत्र नय उस भेद के एक अंश-वार्तमानिक पर्याय का ग्रहण करता है। अतः भेद के चरम अंश का ग्रहण करने से उसका विषय अल्पतर होता है।

ऋजुसूत्र नय कारक आदि भिन्न वस्तु भी वस्तु को अभिन्न मानता है। जबकि शब्द नय कारक, लिंग आदि से वस्तु को भिन्न मानता है अतः उसका विषय ऋजुसूत्र से भी अल्पतर है।

शब्द नय व्युत्पत्ति का भेद होने पर भी पर्यायवाची शब्दों की अभिन्नता को स्वीकार करता है पर समभिरूढ़ नय उनमें भेद मानता है अतः उसका विषय सूक्ष्मतर है।

समभिरूढ़ नय क्रिया का भेद होने पर भी वस्तु के अभेद को स्वीकार करता है, पर एवंभूत नय क्रिया के आधार पर भिन्न अर्थ को स्वीकार करता है अतः वह सर्वाधिक सूक्ष्म है।

4.6 सारांश

इस प्रकार भिन्न-भिन्न नयों के विषय में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता और परिमितता आती जाती है। पूर्ववर्ती नय व्यापक और उत्तरवर्ती व्याप्य हैं। उनमें कारण कार्य की योजना भी की जा सकती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.7 अभ्यास प्रश्नावली

1. निबन्धात्मक प्रश्न

1. नय के स्वरूप को बताते हुए उसके विभिन्न भेदों पर प्रकाश डालिए।

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. नय के महत्त्व पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।
2. नैगम आदि नय-भेदों में किसका विषय क्या है? संक्षेप में बताइये।

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. वस्तु की समग्रता से कथन करने की दो विधियां हैं—1. ...... 2. ....
2. जैनदर्शन के अनुसार वस्तु में .... धर्म होते हैं।
3. सिद्धसेन दिवाकर ने नय का स्वरूप समझाने के लिए .... का दृष्टान्त दिया है।
4. संक्षेप में नय के .... प्रकार हैं।
5. जैन दर्शन के अनुसार सत् का लक्षण है ..... ।
6. औपचारिक सत्य को मुख्य मानने वाला नय है .... ।
7. .... और .... दृष्टियां समानान्तर रेखा पर चलती हैं।
8. सात नयों में .... नय सबसे अधिक सूक्ष्मग्राही दृष्टिकोण है।
9. .... के अनुसार नयज्ञान यथार्थ बोध का माध्यम है।
10. अविवक्षित धर्मों का निराकरण वाले दृष्टिकोण को ...... कहते हैं।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. वस्तु के अनन्त धर्मों में अभेदोपचार करके उसके एक धर्म का स्यात् शब्द से युक्त प्रतिपादन।
2. वस्तु के अनन्त धर्मों की सापेक्षता को दृष्टिमध्य रखकर एक धर्म का प्रतिपादन और दूसरे धर्मों का अनिराकरण।
3. रत्नावली
4. दो
5. उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य
6. व्यवहार
7. संग्रह व्यवहार
8. एवंभूतनय
9. माइल्लधवल

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–5 : व्यंजन पर्याय एवं अर्थ पर्याय

संरचना

5.0 भूमिका
5.1 उद्देश्य
5.2 पर्याय का स्वरूप और सामान्य विवेचन
5.3 तिर्यग् सामान्य
5.4 ऊर्ध्वता सामान्य
5.5 पर्याय के लक्षण
5.6 पर्याय के प्रकार
    5.6.1 अर्थ पर्याय
    5.6.2 व्यञ्जन पर्याय
5.7 सारांश
5.8 अभ्यास प्रश्नावली

5.0 भूमिका

पर्याय का अर्थ है प्रत्येक समय में होने वाला परिवर्तन। समय काल की सबसे छोटी इकाई है और प्रत्येक समय वस्तु के पर्याय परिवर्तित होते रहते हैं। प्रस्तुत पाठ के अन्तर्गत पर्याय के प्रकारों का वर्णन किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति दृश्य जगत् को देखता है। वह दिन प्रतिदिन होने वाली घटनाएं देखता है—बच्चा जन्म लेता है, बड़ा होता है, युवक बनता है, वृद्ध बनता है, मर जाता है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त वह 'पुरुष' कहलाता है, राम, श्याम इत्यादि नाम भी उसके यथावत् रहते हैं, साथ ही शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक आदि विविध दृष्टियों से उसमें बहुत कुछ परिवर्तन भी होता है। मनुष्य सृष्टि को देखता है उसमें विद्यमान पेड़-पौधे, आकाश, पर्वत आदि प्राकृतिक वस्तुओं को देखता है उसी प्रकार पैन, घड़ी, कुर्सी, वायुयान जैसी मनुष्य निर्मित छोटी बड़ी वस्तुओं को भी देखता है। सामान्य व्यक्ति इन सबको देखता है—'क्या है' यह जानता है पर वह इससे आगे चिन्तन नहीं करता है। वैज्ञानिक और दार्शनिक बुद्धि वाले लोग इन सबको देखकर 'क्यों है' के प्रश्न पर चले जाते हैं। वे मीमांसा करते हैं कि जन्म है तो उसका हेतु क्या है? मृत्यु क्यों होती है? पर्वत कौन बनाता है? नदी क्यों होती है? बादल का कोई कर्त्ता होता है या नहीं? वैज्ञानिकों का प्रयोग एवं परीक्षण में विश्वास होता है। भौतिक उपकरणों से भौतिक तत्त्वों का ही परीक्षण संभव है अत: उनका क्षेत्र केवल भौतिक जगत् ही होता है। दार्शनिक कार्य कारण के आधार पर विचार करते हैं, हेतु और उपपत्ति के आधार पर बुद्धि एवं अनुभव से निर्णय लेते हैं अत: उनका क्षेत्र भौतिक और आध्यात्मिक—मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों हैं।

जागतिक चिन्तन का मूल आधार है तत्त्व-मीमांसा। यह जगत् क्या है? इसका मूल क्या है? सत् या द्रव्य किसे कहते हैं? उसका स्वरूप कैसा है? परिवर्तन सत्य है या नित्यता? इत्यादि प्रश्न तत्त्व-मीमांसा के आधारस्तम्भ हैं।

5.1 उद्देश्य

इस पाठ में व्यञ्जन पर्याय और अर्थपर्याय जो पर्याय के दो प्रकार हैं उनका विशद वर्णन है।

तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से भारतीय दर्शन में मुख्यत: तीन अवधारणाएं हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. **नित्यवाद**—कुछ विचारकों के अनुसार नित्यता ही सत्य है। पदार्थ की सत्ता का आधार ध्रौव्य है। वेदान्त आदि एकान्त नित्यवादी दार्शनिकों के अनुसार द्रव्य ही सत्य है, पर्याय अयथार्थ है। सांख्यदर्शन भी पुरुष को कूटस्थ नित्य मानता है। न्याय वैशेषिक दर्शन भी परमाणु, आकाश, आत्मा आदि कुछ द्रव्यों को एकान्ततः नित्य मानते हैं।

2. **अनित्यवाद**—अनित्यवादी विचारकों के अनुसार संसार में स्थिर या ध्रुव नाम का कोई द्रव्य नहीं होता क्योंकि जो सत् है वह क्षणिक है—यत् सत् तत्क्षणिकं यथा जलधरः। अतः बौद्ध दर्शन आदि एकान्त अनित्यवादी विचारकों के मतानुसार पर्याय—उत्पाद और व्यय ही सत्य है, द्रव्य नहीं।

3. **नित्यानित्यवाद**—नित्यानित्यवाद के अनुसार ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो उत्पाद व्यय से रहित हो—परिवर्तन रहित हो। सत् वही होता है जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त हो। जैनदर्शन का यह सिद्धान्त परिणामि नित्यवाद भी कहलाता है। जिस प्रकार अकार आदि अक्षर शास्त्र के आधार हैं उसी प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की यह त्रिपदी पदार्थ का आधार है अतः इसे मातृकानुयोग भी कहते हैं।

यदि पदार्थ को कूटस्थ नित्य माना जाए तो वह अर्थक्रिया नहीं कर सकता क्योंकि नित्य का अर्थ है जिसका स्वरूप जैसा है वैसा ही रहता है कभी परिवर्तन नहीं होता। जब पदार्थ एकान्ततः नित्य ही है तो वह न उसमें क्रम से अर्थक्रिया संभव है और न अक्रम से। अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में सत्त्व भी नहीं रहता। फलतः सत्ता का अभाव ही सिद्ध होगा। यही स्थिति निरन्वय नाश मानने वाले अनित्यवादी सिद्धान्त की है। यदि परमाणु ही नहीं है तो द्व्यणुक =यणुक आदि कहां से होंगे? अतः न एकान्त नित्यता क्रियाकारी है और न एकान्त अनित्यता।

उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य परस्पर सापेक्ष हैं। कछुए के रोम का उत्पाद नहीं होता, उसका विनाश और ध्रौव्य भी नहीं है। आकाश कुसुम का विनाश या स्थिति नहीं है तो उत्पत्ति भी असंभव है। उत्पाद और विनाश का अर्थ है परिवर्तन। परिवर्तन या परिणमन का ही दूसरा नाम है पर्याय। ध्रौव्य का अपर नाम है द्रव्य। अर्थात् द्रव्य और पर्याय का अविनाभावी सम्बन्ध है। इसीलिए कहा गया—

द्रव्य पर्याय रहितं, पर्याया द्रव्यवर्जिताः।
क्व कदा केन किं रूपा दृष्टा मानेन केन वा॥

प्रस्तुत अध्याय में हमें पर्याय की चर्चा विशेषतः अभीष्ट है।

वाचक मुख्य ने द्रव्य को परिभाषित करते हुए लिखा—'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।' सत् की अवधारणा में उन्होंने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को आधार बनाया। जो उत्पाद विनाशशील होते हैं उन क्रमभावी धर्मों को ही पर्याय कहा जाता है। जो द्रव्य के सहभावी धर्म होते हैं वे गुण कहलाते हैं। गुण और पर्याय का यह सहभावित्व और क्रमभावित्व रूपी भेद उत्तरकालीन विचार है। प्राचीन आगम साहित्य में इस प्रकार का भेद उपलब्ध नहीं होता। केवल दो आगमों—अनुयोगद्वारसूत्र तथा उत्तराध्ययनसूत्र के अतिरिक्त संभवतः कोई ऐसा आगम ग्रन्थ नहीं होगा जिसमें गुण और पर्याय का सहभावी और क्रमभावी धर्म के रूप में भिन्न-भिन्न उल्लेख हुआ हो।

5.2 पर्याय का स्वरूप और सामान्य विवेचन

उत्तराध्ययनसूत्र में पर्याय का स्वरूप बताते हुए लिखा गया—लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे। अर्थात् पर्याय का लक्षण है कि वह द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित होती है। जिस प्रकार द्रव्य का अन्वयी अंश गुण कहलाता है उसी प्रकार उसका व्यतिरेकी अंश पर्याय कहलाता है। द्रव्य का जगत् सीमित है पर्याय का जगत् विस्तृत है, विराट् है। हम साधारणतया पर्याय के आधार पर ही द्रव्य का बोध करते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

द्रव्य भेद में अभेद का प्रतीक है वहां पर्याय अभेद में भेद का अतः द्रव्य का अनाकार अवबोध—दर्शन हो सकता है, साकार अवबोध में द्रव्य के किसी-न-किसी विशेष परिणमन का ही ग्रहण होता है। व्यतिरेकी अंश का ग्राहक होने से ही साकार अवबोध में निर्णायकता आती है।

पर्याय शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए धवलाकार वीरसेन ने लिखा है—परिसमन्तात् आयः पर्यायः—जो सब ओर से भेद को प्राप्त करे वह पर्याय कहलाता है। अथवा जो स्वभाव और विभाव रूप से परिणमन करे उसे पर्याय कहते हैं। पूज्यपाद ने पर्याय, विशेष, अपवाद, व्यावृत्ति आदि को एकार्थक माना है।

पर्याय के लिए परिणाम शब्द का प्रयोग भी मिलता है। सामान्यतया ऊर्ध्वता सामान्य रूप द्रव्य की पर्यायों को परिणाम कहा जाता है। प्रस्तुत संदर्भ में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सामान्य के दो प्रकार होते हैं—

5.3 तिर्यग् सामान्य

एक ही समय में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अवस्थित द्रव्यों में जो समानता की अनुभूति होती है उसे तिर्यग् सामान्य कहते हैं जैसे—बहुत से घड़ों में घटत्व की अनुभूति, बहुत से मनुष्यों में मनुष्यत्व की अनुभूति।

5.4 ऊर्ध्वता सामान्य

एक ही द्रव्य की भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न अवस्थाएं होती हैं फिर भी उनमें एकत्व की अनुभूति होती है समानता का बोध होता है उसे ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। जैसे—राम पहले एक छोटा बच्चा था, कुछ बड़ा हुआ, युवक बना, वृद्ध हुआ। इन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भी रामत्व, राम होने की अनुभूति ऊर्ध्वता सामान्य है। परिणाम शब्द का सम्बन्ध द्रव्य की इन्हीं पर्यायों से है जो भिन्न-भिन्न काल और अवस्थाओं में भी एकता की अनुभूति करवाता है।

उमास्वाति ने पर्याय के अर्थ में परिणाम पद का प्रयोग किया है। एक धर्म की निवृत्ति होने पर इतर धर्म की उत्पत्ति रूप द्रव्य की जो अपरिस्पन्दात्मक पर्याय है उसे परिणाम कहा जाता है। यद्यपि द्रव्य अपनी द्रव्यत्व जाति को नहीं छोड़ता तथापि उसमें स्वाभाविक अथवा प्रायोगिक परिवर्तन होता रहता है—यह परिवर्तन ही परिणाम है। द्रव्य द्वारा अपने मूल स्वरूप को न छोड़ते हुए भी पूर्व पर्याय की विनिवृत्तिपूर्वक उत्तर पर्याय का उत्पन्न होना ही परिणाम है।

जैनदर्शन के अनुसार जगत् के घटक तत्त्व छह हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय। इनमें पुद्गल और जीव गमन और स्थानधर्मा हैं। जब वे गति-परिणत होते हैं तब धर्मास्तिकाय उनकी गति में उदासीन भाव से सहयोग देता है। जब वे गति से निवृत्त होते हैं तब धर्मास्तिकाय के सहयोग का अभाव होता है—इस प्रकार धर्मास्तिकाय के साथ जीव और पुद्गल की गति और गत्यभाव के आधार पर संयोग और वियोग रूप परिणति भिन्नता प्रतिक्षण होती है—धर्मास्तिकाय की पर्याय प्रतिक्षण बदलती रहती है। गति के समान स्थिति में जीव और पुद्गल की परिणति और निवृत्ति के आधार पर अधर्मास्तिकाय की पर्याय परिवर्तित होती रहती है। जीव और पुद्गल एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन करते हैं—पहले अमुक पुद्गल अथवा जीव 'क' प्रदेश में अवस्थित था तब वहां के आकाशास्तिकाय के साथ उसका संयोग था। जब वह वहां से हटकर 'ख' देश में चला गया, 'क' देश के आकाश प्रदेशों से उसका वियोग हो गया, 'ख' देश से उसका संयोग हो गया। इस प्रकार धर्मास्तिकाय आदि अमूर्त्त अगतिशील द्रव्यों की पर्याय जीव और पुद्गल के संयोग और वियोग के आधार पर परिवर्तित होती रहती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पुद्‌गलास्तिकाय रूपी पदार्थ है। उसका स्वभाव गलन-मिलन है। एक अनन्तप्रदेशी स्कन्ध टूटकर अनेक छोटे-छोटे स्कन्धों में बदल जाता है, अनेक छोटे-छोटे स्कन्ध मिलकर एक बड़ा स्कन्ध बन जाता है। घट, पट आदि का भी निर्माण और विनाश होता रहता है। इस प्रकार पुद्‌गलास्तिकाय में भी प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है। एक जीव कभी नारक रूप में उत्पन्न हो जाता है, कभी वह मनुष्य बन जाता है, कभी पशु बन जाता है तो कभी पक्षी। इस प्रकार जीव की पर्याय भी निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। इस प्रकार जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक द्रव्य निरन्तर परिणमन करता रहता है। परिणमन के अभाव में द्रव्य का अस्तित्व संभव नहीं।

5.5 पर्याय के लक्षण

उत्तराध्ययनसूत्र में पर्याय के छह लक्षण निरूपित हैं—

एगत्तं च पुहत्तं च संखा संठाणमेव च।
संजोगा य विभागा य पज्जवाणं च लक्खणं॥

1. **एकत्व**—पर्याय का एक लक्षण है—स्कन्ध के भिन्न-भिन्न परमाणुओं में एकत्व की अनुभूति करवाना। एक घट में अनन्त परमाणुओं की संहति होती है फिर भी हम उसे एक घट रूप में जानते हैं यह 'एक' पदार्थता की अनुभूति उस 'घट' पर्याय के ही कारण होती है।
2. **पृथक्त्व**—संयुक्त पदार्थों में भेदज्ञान का हेतु बनना भी पर्याय के ही कारण संभव है। जैसे यह इससे भिन्न है।
3. **संख्या**—पर्याय ही दो, तीन, दस, संख्यात, असंख्यात आदि संख्याओं का हेतु है।
4. **संस्थान**—द्रव्य का परिणमन ही वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि व्यवहारों का हेतु बनता है अतः पर्याय का एक लक्षण है संस्थान—आकृति।
5. **संयोग**—दो या दो से अधिक के संयोग की अनुभूति का हेतु मूलभूत द्रव्य का परिणाम संयोग कहलाता है।
6. **विभाग**—यह इससे विभक्त है—इस प्रकार की बुद्धि का हेतु भी पर्याय है। अतः विभग भी पर्याय का एक लक्षण है। यहां ज्ञातव्य यह है कि पृथक्त्व दो वस्तुओं की भेदगत प्रतीति पर आधारित है जबकि विभाग संयोग की उत्तरवर्ती अवस्था है। अतः विभाग और पृथक्त्व दो भिन्न लक्षण माने गए हैं।

पर्याय के लक्षणों को सूत्र निबद्ध करते हुए गुरुदेव तुलसी ने लिखा है—

एकत्व-पृथकत्व-संख्या-संस्थान-संयोग-विभागास्तल्लक्षणम्।

5.6 पर्याय के प्रकार

कुन्दकुन्द ने पर्याय के हेतु की दृष्टि से पर्याय के दो प्रकार किए हैं—स्वपरसापेक्ष और निरपेक्ष। जो पर्याय स्व अथवा पर निमित्तों से सापेक्ष होती है उसे स्वपर सापेक्ष, सापेक्ष अथवा विभाव परिणाम कहते हैं। वैभाविक पर्याय मुख्यतः रूपी द्रव्य में होती है अतः उसका मूल विषय है पुद्‌गलास्तिकाय। संसारी जीव कर्म युक्त होते हैं। कर्म स्कन्धों के एकीभाव के कारण वे कथंचित् मूर्त्त होते हैं अतः उनमें भी वैभाविक पर्याय होती है। जीव का देव, मनुष्य आदि अवस्थाओं में परिणमन तथा घट-पट आदि के रूप में पुद्‌गल की विभाव पर्याय हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जो पर्याय दूसरे निमित्तों से निरपेक्ष होती है वह निरपेक्ष अथवा स्वभावपर्याय कहलाती है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि चारों द्रव्यों में केवल स्वाभाविक परिणमन ही होता है। जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक द्रव्य में अगुरुलघुत्व नामक गुण होता है। इस गुण के कारण द्रव्य में अनेक परिणमन हो जाने के बावजूद भी वह अपने स्वरूप से अविचलित रहता है। जैन सिद्धान्त दीपिका में गुरुदेव श्री तुलसी ने अगुरुलघुत्व को परिभाषित करते हुए लिखा—स्वस्वरूपाविचलनत्वम्-अगुरुलघुत्वम्। प्रत्येक द्रव्य में होने वाला यह अगुरुलघुत्व परिणमन स्वभाव पर्याय का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। पर्याय के दो अन्य और मुख्य प्रकार हैं—अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय।

5.6.1 अर्थ पर्याय

सूक्ष्मो वर्तमानवर्त्यर्थपरिणामः अर्थपर्यायः।

द्रव्य में होने वाले सूक्ष्म और वर्तमानकालिक परिणमन को अर्थपर्याय कहते हैं। वह द्रव्य का अन्तर्भूत परिणमन है। उसमें अतीत और अनागत का उल्लेख नहीं हो सकता। अर्थ पर्याय एक समय वाली तथा संज्ञा असंज्ञी सम्बन्ध से रहित होती है।

मूर्त्त हो या अमूर्त्त, सूक्ष्म हो या स्थूल संसार का कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं जिसमें अर्थपर्याय न हो। यदि द्रव्य में प्रतिक्षण परिवर्तन न हो तो एक लम्बे अन्तराल के बाद भी परिवर्तन संभव नहीं। एक बच्चे की लम्बाई एक साल पूर्व 4 फुट थी, अब 5 फुट हो गई पर इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह एक वर्ष बाद सीधा एक फुट लम्बा बढ़ गया है। वह प्रतिक्षण, प्रतिसैकण्ड, प्रतिमिनट, प्रतिघण्टे, तथा प्रतिदिन बढ़ रहा है, पर वह परिवर्तन इतना सूक्ष्म होता है कि हम इंचों में माप नहीं पाते। यही स्थिति अन्य द्रव्यों के विषय में भी है।

5.6.2 व्यञ्जन पर्याय

द्रव्य का वह परिणमन जिसे अभिव्यक्त किया जा सके, व्यञ्जन पर्याय कहलाता है। यह अर्थ पर्याय की अपेक्षा स्थूल और दीर्घकालिक होती है। जैनदर्शन की भाषा में व्यञ्जन पर्याय का काल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः असंख्यात काल होता है। सुदीर्घ असंख्यातकाल की अपेक्षा से इसे शाश्वत और अनाद्यनन्त भी कह दिया जाता है जैसे—मेरुपर्वत के रूप में परिणत पुद्गल, स्वर्ग, नरक के क्रमशः विमानावास और नरकावास में परिणत पुद्गल। व्यञ्जन पर्याय की परिभाषा बताते हुए गुरुदेव तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका में लिखा है—स्थूलः कालान्तरस्थायी शब्दानां संकेतविषयो व्यञ्जनपर्यायः। जो पर्याय स्थूल हो, कालान्तर तक स्थिर रहे, शब्दों के संकेत का विषय बने वह परिणति व्यञ्जन पर्याय है।

व्यञ्जन पर्याय का क्षेत्र केवल मूर्त्त अथवा रूपी पदार्थ है। धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य एकान्ततः अमूर्त्त हैं अतः उनके व्यञ्जन पर्याय नहीं होती। यही कारण है—स्थूल भाषा में कह दिया जाता है—यां च्यारां की पर्याय पलटै नहीं। संसारी जीवों तथा पुद्गल के व्यञ्जन पर्याय होती है। जैसे मनुष्य, तिर्यंच, देव आदि अवस्थाएं, मनुष्य की भी बचपन, यौवन आदि पर्याय जीव की व्यञ्जन पर्याय है क्योंकि इनका दीर्घकालिक अवस्थान अभिव्यक्ति का विषय बनता है। इसी प्रकार पुद्गल की पुस्तक, मेज, घट, पट आदि पर्यायें व्यञ्जन पर्याय हैं।

सिद्धसेन दिवाकर ने व्यञ्जनपयार्य को व्यञ्जननियत—शब्दसापेक्ष और अर्थपर्याय को अर्थ-नियत—शब्दनिरपेक्ष बताते हुए कहा है—

जो उण समासओ च्चिय वंजणनिअओ य अत्थणिअओ य।
अत्थगओ य अभिणो भइयव्वो वंजणवियप्पो ॥ (सन्मतितर्क प्रकरण 1/30)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रत्येक पदार्थ भेद और अभेद उभयात्मक होता है। उसमें जब अभेद के ऊपर सूक्ष्म विचारणा से काल, देश आदि के कारण भेदों की कल्पना की जाती है तब वे भेद विचार की सूक्ष्मता के कारण उत्तरोत्तर बढ़ते ही जाते हैं। अभिन्न अर्थात् सामान्य स्वरूप के ऊपर कल्पित अनन्त भेदों की इस परम्परा में जितना सदृश परिणाम-प्रवाह किसी भी एक शब्द का वाच्य बनकर व्यवहार का विषय बनता है उतना वह प्रवाह व्यञ्जन पर्याय कहलाता है और उन उक्त भेदों की परम्परा में जो भेद अनभिलाप्य हो—वाणी या संकेत का विषय न बने वह अर्थपर्याय है। जैसे चेतन पदार्थ का संसारित्व, मनुष्यत्व, पुरुषत्व, बालत्व आदि परिणमन व्यञ्जनपर्याय है। उसमें क्षण-क्षण में होने वाला सूक्ष्म परिणमन अर्थपर्याय है।

व्यञ्जन पर्याय यद्यपि सदृश प्रवाह की दृष्टि से अभिन्न—एक है फिर भी उसमें अनेक छोटे-बड़े भेद किए जा सकते हैं अतः वह भिन्न भी है जैसे बाल्य एक व्यञ्जन पर्याय है उसके तत्काल जन्म, स्तन्धयत्व आदि अनेक भेद हो सकते हैं। अर्थ पर्याय अभिन्न है क्योंकि वह भेदों की परम्परा में अंतिम भेद है, उसमें कोई अन्य भेदक अंश नहीं होता अतः वह अभिन्न—अभेद्य है। व्यञ्जन पर्याय को उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करते हुए दिवाकर श्री कहते हैं—

पुरिसम्मि पुरिससद्दो जम्माई मरणकालपज्जन्तो।
तस्स उ बालाईया पज्जवजोया बहुवियप्पा॥ —**सन्मतितर्क प्रकरण 1/32**

जन्म से लेकर मरणकाल पर्यन्त पुरुष में 'पुरुष' ऐसे शब्द का प्रयोग होता है और बाल आदि अनेक प्रकार के पर्याय उसी के अंश या विकल्प हैं।

यदि बचपन, यौवन, आदि पर्यायों को एकान्ततः अभिन्न ही माना जाए तो परिणाम यह होगा कि उसका वह बचपन, यौवन आदि पर्याय भी सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि बचपन पर्याय का अर्थ ही है कि वह तत्कालजन्म, स्तनन्धयत्व, शैशव आदि अनेक अवान्तर भेदों का समवाय है। एकान्त अभेद मानने से अवान्तर भेदों—अंशों का लोप हो जाएगा और जब अंशों का लोप हो जाएगा तो अंशी कहां बच पाएगा? पुरुषत्व पर्याय के उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—

अत्थित्ति णिव्वियप्पं पुरिसं जो भणइ पुरिसकालम्मि।
सो बालाइवियप्पं न लहइ तुल्लं व पावेज्जा॥ —**सन्मतितर्क प्रकरण 1/33**

दिवाकरश्री के अनुसार एक ही पुरुष व्यक्ति में निर्विकल्प और सविकल्प दोनों प्रकार की बुद्धि होती है। जब पुरुष में इस प्रकार की निर्विकल्प बुद्धि होती है, तब उसका विषय पुरुष पर्याय एक अभिन्न व्यञ्जन पर्याय है और उसी में जब बाल, युवा आदि अनेक विकल्पों की विवक्षा होती है वे उस पुरुष पर्याय के अर्थ पर्याय हैं अर्थात् एकाकार बुद्धि से गृहीत व्यञ्जन पर्याय में भासित होने वाले भेद उस व्यञ्जन पर्याय के अर्थ पर्याय हैं।

5.7 सारांश

इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में अनन्त व्यञ्जन पर्याय और अनन्त अर्थ पर्याय होते हैं अतः एक ही द्रव्य पर्याय की दृष्टि से अनन्त हो जाता है। इसी को स्पष्ट करते हुए दीपिकाकार का कहना है—पूर्वोत्तराकाराणामानन्त्यात् पर्याया अपि अनन्ता एव। पर्याय ही द्रव्य के ज्ञान के हेतु बनते हैं अतः पयार्य की अनन्तता ही द्रव्य की अनन्तता का हेतु बनता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. व्यञ्जन पर्याय और अर्थ पर्याय को परिभाषित करते हुए सिद्धसेन दिवाकर के विचारों को स्पष्ट करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. तिर्यक्सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य को स्पष्ट करें।
2. पर्याय का स्वरूप क्या है? विश्लेषण करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. दार्शनिक का क्षेत्र .... और .... दोनों पदार्थ हैं।
2. जागतिक चिन्तन का मूल आधार है ....।
3. बौद्धदर्शन के अनुसार .... ही सत्य है।
4. वेदान्तदर्शन के अनुसार पदार्थ एकान्ततः .... होता है।
5. उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर .... हैं।
6. गुण और पर्याय को भिन्न-भिन्न संदर्भों में प्रयोग करने वाले दो आगम हैं 1. ...... 2. ....।
7. उमास्वाति ने पर्याय के अर्थ में .... पद का प्रयोग किया है।
8. .... पर्याय स्थूल होती है।
9. घट, पट आदि .... की .... पर्याय है।
10. स्वभाव पर्याय का अर्थ है ....।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–2 : भेदाभेदवाद

इकाई–6 : जीव–पुद्‌गल का भेदाभेदवाद

संरचना

6.0 भूमिका

6.1 उद्देश्य

6.2 जैनशास्त्रों में जीव पुद्‌गल सम्बन्ध विवेचन

6.3 बुद्धिवादी दार्शनिकों द्वारा जीव पुद्‌गल सम्बन्ध विवेचन

6.0 प्रस्तावना

जैनदर्शन द्वैतवादी विचारधारा का समर्थक है। द्वैतवाद के अनुसार संसार के समस्त पदार्थों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—चेतन तत्त्व और अचेतन तत्त्व। ठाणं सूत्र में इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए सारे तत्त्वों को द्विपदावतारित बताया गया है। चेतन और अचेतन परस्पर निरपेक्ष, निराधार और स्वयंभू हैं। किसी भी ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य पुरुषकार अथवा पराक्रम से जीव को अजीव में तथा अजीव को जीव में परिवर्तित नहीं कर सकता।

जैनदर्शन का सृष्टिवाद पञ्चास्तिकाय का निरूपण करता है। उनमें चार अस्तिकाय अजीव तथा एक जीवास्तिकाय जीव है। अजीव तत्त्वों में एक प्रमुख और सर्वाधिक प्रतीतिगम्य तत्त्व हैं पुद्‌गलास्तिकाय। जीव और अजीव में अस्तित्व की दृष्टि से अत्यन्ताभाव है, दोनों का स्वरूप सर्वथा भिन्न है। एक क्षेत्रावगाही होने पर भी कभी भी मिल नहीं सकते। पर उपयोगिता की दृष्टि से दोनों में गहरा सम्बन्ध है। पुद्‌गल के संयोग से कदाचित् जीव अजीववत् प्रतिभासित होने लगता है—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक आदि जीव निकायों में चेतना पर कर्म पुद्‌गलों का इतना सघन आवरण होता है कि अधिकांश दार्शनिक और विज्ञ लोग भी उन्हें अजीव मानने लगते हैं। जीव की प्रकृष्ट सन्निधि के परिणामस्वरूप पुद्‌गल भी जीववत् प्रभावी हो जाते हैं। जीव पर हावी हो जाते हैं, इस अपेक्षा से उनकी परस्पर सापेक्षता एवं परस्परोपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

जीव के मुख्यत: दो प्रकार हैं—1. सिद्ध और 2. संसारी। सिद्ध शरीरमुक्त होते हैं, संसार और उसके कारणभूत कर्म सम्बन्ध से मुक्त होते हैं। पुद्‌गल के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। संसारी जीव सकर्मा होते हैं। कर्मफल भोगने के लिए प्राणी शरीर धारण करता है। संसारी जीव एक क्षण के लिए भी शरीररहित नहीं रह सकते। शरीर, मन, वाणी में प्रयुक्त होने वाला सारा द्रव्य पुद्‌गल है अत: यह कहा जा सकता है कि कोई भी क्षण ऐसा नहीं जब एक संसारी जीव पुद्‌गलों की सहायता, पुद्‌गलों के प्रयोग के बिना बिता सके। एक प्रकार से संसारस्थित आत्मा और पुद्‌गल क्षीर और नीर की भांति एक दूसरे से ओत-प्रोत हैं। इसीलिए कहा गया—

अण्णोण्णाणुगयाणं इमं व तं व त्ति विभयणमजुत्तं।
जह दुद्धपाणियाणं जावंत विसेसपज्जाया॥ **–तर्कसन्मतितर्क प्रकरण 1/47**

आत्मा और पुद्‌गल परस्पर-अनुविद्ध होने से उन दोनों में 'यह शरीर है (पुद्‌गल है) और यह जीव है' इस प्रकार का देशकृत विभाग करना संभव नहीं। बचपन, यौवन आदि अवस्थाएं तथा वर्ण, गंध आदि गुण वस्तुत: पुद्‌गल अर्थात् शरीर के धर्म हैं पर ये केवल पुद्‌गल के ही धर्म हैं अथवा इनमें जीव का कोई असर नहीं यह नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जो पर्याय जीव से सम्बन्धित हैं उन पर पुद्‌गल का कोई

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

असर नहीं पड़ता यह भी कहना शक्य नहीं जैसे ज्ञान, स्मरण, सुख-दुःख आदि जीवगत पर्याय हैं पर उन पर पुद्गल का भी असर देखा जाता है। वस्तुतः संसारी जीव में शरीरगत या जीवगत जिन-जिन पर्यायों का अनुभव होता है वे जीव और पुद्गल की शुद्ध पर्याय नहीं बल्कि दोनों के संयोग का परिणाम हैं—सांयोगिक पर्याय हैं। यही कारण है कि दिवाकरश्री ने आत्मद्रव्य में भेदाभेद सिद्ध करने के लिए भी यौवन, बचपन आदि पर्यायों का दृष्टान्त दिया है।

6.1 उद्देश्य–इस पाठ में हम निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत विषयवस्तु को पढ़कर पाठ के मर्म को समझ सकेंगे।

6.2 जैनशास्त्रों में जीव पुद्गल सम्बन्ध विवेचन

जीव और पुद्गल एक-दूसर में कितने ओतप्रोत हैं, इसे प्राचीन आगमों के उदाहरण से सिद्ध करते हुए सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मतितर्क प्रकरण में ठाणंसूत्र के 'एगे आया', 'एगे दण्डे' आदि सूत्रों को पद्य-निबद्ध किया है—

एवं एगे आया एगे दंडे य होइ किरिया य।
करणविसेसेण य विविहजोगसिद्धी वि अविरुद्धा॥ सन्मतितर्क प्रकरण 1/49

स्थानांग आदि अनेक शास्त्रों में आत्मा एक है, दण्ड एक है, क्रिया एक है आदि एकत्व सूचक व्यवहार उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार अनेक स्थलों पर आत्मा (जीव) के चार प्रकार, दण्ड के तीन प्रकार आदि अनेकत्व सूचक प्रतिपादन व्यवहार भी उपलब्ध होते हैं। यदि जीव और पुद्गल को अत्यन्त भिन्न माना जाए तो मन, वचन और काया तो पुद्गल रूप हैं उनके आधार पर दण्ड और क्रिया को अनेक रूप कैसे माना जाए? यदि मन, वचन आदि के आधार पर अनेक प्रकार माना जाए तो एगे दण्डे, एगा किरिया आदि प्रतिपादन किस आधार पर हो सकते हैं? योग का आधार है वीर्य। उसे यदि केवल आत्मरूप ही माना जाए तो एक रूप कहा जा सकता है या शक्ति के रूप में अनन्त कहा जा सकता है, तीन प्रकार का ही क्यों कहा जाय?

आत्मा और पुद्गल का परस्पर अभेद स्वीकार करने पर उपर्युक्त प्रश्न का कोई अवकाश नहीं रहता। मानसिक, वाचिक एवं कायिक द्रव्य की अनेकता है फिर भी वे सब एक आत्मतत्त्व से सम्बद्ध हैं अतः एक हैं। इसी प्रकार योग के साधनों की भिन्नता होने पर भी आत्मा की एकता के आधार पर एगे दण्डे और एगा किरिया का प्रतिपादन युक्तिसंगत है। इसी प्रकार वीर्य के प्रकटीकरण के तीन कारण हैं—मन, वचन और शरीर इसी आधार पर वीर्य को भी त्रिविध माना जा सकता है।

सामान्यतः सुख-दुःख आदि का अनुभव करने वाला आत्मतत्त्व आन्तरिक माना जाता है और रूप, रस आदि गुणों को धारण करने वाला होने से पुद्गल को बाह्य पदार्थ कहा जाता है। यहां शंका यह उपस्थित होती है कि यदि आत्मा और पुद्गल में अभेद माना जाए तो पुद्गल से अभिन्न मानने पर या तो आत्मा को पुद्गल के समान बाह्य मानना चाहिए या फिर आत्मा में अनुप्रविष्ठ होने से पुद्गल को भी आन्तरिक मानना चाहिए।

इस विषय में सिद्धसेन दिवाकर का समाधान यह है—

ण य बाहिरओ भावो अब्भंतरओ य अत्थि समयम्मि।
णोइंदियं पुण पडुच्च होइ अब्भंतर विसेसो॥ सन्मतितर्क प्रकरण 1/50

जैन आगमों में वस्तुतः अमुक पदार्थ बाह्य है और अमुक पदार्थ आभ्यन्तर ऐसा कोई विभाग नहीं है। जिस विषय का ग्रहण बाह्य इन्द्रियों से नहीं होता, जो केवल मन का विषय होता है उसे आभ्यन्तर कहा जाता है। जिस विषय को इन्द्रियां ग्रहण कर सकती हैं उसे स्थूल होने के कारण बाह्य कहा जाता है। इस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दृष्टि से किसी-किसी पुद्‌गल पर्याय को भी आभ्यन्तर कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ कर्म वर्गणा के पुद्‌गल इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य हैं अतः आन्तरिक हैं। इसी प्रकार देहधारी जीव की गति आदि अनेक क्रियाएं बाह्य इन्द्रियों का विषय बनती हैं अतः एक अपेक्षा से जीव भी बाह्य है।

शास्त्रवार्तासमुच्चय में हरिभद्र ने भी एक ही पुरुष में भेदाभेद की सिद्धि करते हुए सन्मतितर्क प्रकरण का ही अनुसरण किया है। उपाध्याय यशोविजय जी ने शास्त्रवार्तासमुच्चय की टीका में प्रस्तुत प्रसंग में एकान्तवाद का निरसन भी किया है। उन्होंने बताया कि—बचपन आदि अवस्थाएं एकान्ततः शरीर की हैं क्योंकि आत्मा कूटस्थ नित्य है नैयायिकों का यह मत समीचीन नहीं है। जहां एक ओर 'मैं बालक हूं' इस अनुभूति से आत्मा और पुद्‌गल का एकत्व सिद्ध होता है वहां 'पहले मैं बच्चा था, अब युवा हो गया हूं'। यह अनुभूति आत्मा के साथ 'मैं' इस पद का आधार आत्मा है और बचपन, यौवन आदि अवस्थाओं का आधार शरीर भेद की सिद्धि होती है।

जीव और पुद्‌गल के भेदाभेद के सम्बन्ध में भगवतीसूत्र में एक महत्त्वपूर्ण संवाद उपलब्ध होता है। गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—भन्ते! शरीर आत्मा है या आत्मा से भिन्न? भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम! शरीर आत्मा भी है और आत्मा से भिन्न भी है। फिर गौतम ने पूछा—भन्ते! शरीर रूपी है या अरूपी? भगवान् ने कहा—गौतम! शरीर रूपी भी है और अरूपी भी है।

यदि आत्मा और शरीर में एकान्ततः अभेद माना जाए तो शरीर आत्मा से भिन्न है, शरीर रूपी है आदि प्रतिपादन कैसे हो सकते हैं? यदि आत्मा और पुद्‌गल सर्वथा भिन्न हों तो शरीर आत्मा है तथा शरीर अरूपी है—इत्यादि कथनों का क्या आधार हो सकता है? दोनों में अभेद मानने पर ही शरीर को अरूपी, सचेतन अथवा जीवरूप कहा जा सकता है। इसी प्रकार शरीर को रूपी, अचेतन अथवा अजीव कहने से दोनों में भेद की सिद्धि होती है।

जीव और पुद्‌गल दोनों स्वरूप की दृष्टि से सर्वथा भिन्न हैं—जीव अमूर्त्त है—स्पर्श, रस, गंध और वर्ण से रहित है, पुद्‌गल मूर्त्त है, स्पर्श आदि चारों उसके स्वरूप धर्म हैं। जीव चेतन है जबकि पुद्‌गल अचेतन। फिर दोनों का परस्पर सम्बन्ध कैसे हो सकता है? ऐसा कौन सा तत्त्व है जो जीव और पुद्‌गल को एक दूसरे की ओर आकृष्ट करता है। व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र में इस विषय में पांच पदों का प्रयोग किया गया है—1. अन्योन्यबद्ध, 2. अन्योन्यस्पृष्ट, 3. अन्योन्य अवगाढ़, 4. अन्योन्य स्नेहप्रतिबद्ध, 5. अन्योन्य-एकीभूत।

इसमें स्नेह प्रतिबद्ध शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है। जीव और पुद्‌गल दोनों एक दूसरे को सम्बन्ध के लिए प्रेरित करते हैं जीव में स्नेह है—आश्रव। पुद्‌गल में स्नेह है—आकर्षित होने की अर्हता। इस पारस्परिक स्नेह के परिणामस्वरूप ही दोनों का सम्बन्ध होता है। जब जीव स्नेह-रहित हो जाता है, आश्रवनिरोध हो जाता है तब जीव के साथ पुद्‌गल का सम्बन्ध नहीं हो सकता। वह पुद्‌गल मुक्त सिद्ध बन जाता है।

प्राचीनकाल से ही जीव और अजीव के सम्बन्ध के विषय में प्रायः प्रत्येक द्वैतवादी दर्शन चिन्तन करता रहा है। बुद्ध के समय में भी जीव और शरीर के भेदाभेद का प्रश्न एक मुख्य मुद्दा माना जाता था। बौद्ध पिटकों में पांच स्कन्धों का प्रतिपादन हुआ है—रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध। बौद्ध मत के अनुसार इन स्कन्धों को न आत्मा से अभिन्न माना जा सकता और न भिन्न। यदि कहा जाये कि इन स्कन्धों का भेदन होने पर भी आत्मा का भेदन नहीं होता तो शाश्वतवाद का प्रसंग आता है। यदि स्कन्धों का भेद होने पर आत्मा का भेद माना जाए तो उच्छेदवाद का प्रसंग आता है अतः स्कन्धों से आत्मा को भिन्न अथवा अभिन्न नहीं कहा जा सकता, यह अव्याकृत है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चार्वाक मत में जीव नाम का कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं। पांच महाभूतों के संयोग से जब शरीर का आकार बनता है तब जीव नामक तत्त्व की उत्पत्ति होती है। सूत्रकृतांगसूत्र में चार्वाक अथवा लोकायत मत का नाम पूर्वक उल्लेख नहीं है पर पंचमहाभूतवाद का मत उल्लिखित है। उनके अनुसार इन भूतों के संयोग से एक (आत्मा) उत्पन्न होता है तथा इनका नाश होने पर उस देही का भी नाश हो जाता है। आगम काल में यह मत तज्जीवतच्छरीरवाद के रूप में जाना जाता था। सूत्रकृतांग सूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों में इसका वर्णन मिलता है। बौद्ध साहित्य में अजितकेशकम्बल को इस मत का प्रवर्तक माना गया है। इस मत में आत्मा और पुद्‌गल (शरीर) भिन्न-भिन्न नहीं क्योंकि जब तक शरीर जीता है आत्मा जीता है, शरीर मरता है तो आत्मा भी मर जाता है। न शरीर से भिन्न जीव होता है और न शरीर के बिना उनका संवेदन ही संभव है। जैसे म्यान से तलवार, मूंज से शलाका, मांस से हड्डी, हथेली और आंवला, दही से नवनीत, तिल से तैल, ईख से रस और अरणी से आग को पृथक् देखा जा सकता है, समझा और जाना जा सकता है, दिखाया जा सकता है, वैसे कोई भी पुरुष ऐसा नहीं जो शरीर से भिन्न आत्मा को अलग से दिखला सके, समझा सके। राजप्रश्नीय सूत्र में राजा प्रदेशी भी इसी मत का समर्थक था। उसने अनेक उदाहरणों एवं युक्तियों से यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जीव और शरीर (पुद्‌गल) सर्वथा अभिन्न है अतः स्वर्ग, नरक आदि की चर्चा व्यर्थ है। कुमार श्रमण केशी ने अनेक प्रत्युदाहरणों एवं प्रतितर्कों के द्वारा यह सिद्ध किया कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न है, उन्हें एक नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार उपनिषद आदि ऐसे अनेक दर्शन हैं जिनमें आत्मा से भिन्न शरीर का कोई अस्तित्व नहीं।

आगम युग में इस चर्चा का आधार था आत्मा और पुद्‌गल के संबंध की विवेचना, दोनों का परस्पर प्रभाव का विश्लेषण। विशेषावश्यक भाष्य आदि आगमोत्तरकालीन ग्रन्थों में आत्मा और शरीर के सम्बन्ध के विषय में समझा जाने लगा। पाश्चात्य विद्वानों की अवधारणा में आत्मा और मनस् दो तत्त्व नहीं अतः वे शरीर मनस् सम्बन्ध की चर्चा करते हैं। मुख्यतः बुद्धिवादी दार्शनिकों ने इस विषय में निम्नांकित सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं—

6.3 बुद्धिवादी दार्शनिकों द्वारा जीव पुद्‌गल सम्बन्ध विवेचन

1. **अन्तर्क्रियावाद**—रेने देकार्ते ने मनस् और शरीर की निरपेक्षता का प्रतिपादन किया। मनस् में चेतन तत्त्व विद्यमान है जबकि शरीर भौतिक गुणों का विस्तार है। अतः गुणों की दृष्टि से दोनों सर्वथा पृथक् हैं फिर भी दोनों एक दूसरे को प्रभावित कैसे करते हैं? देकार्ते के अनुसार मनस् और शरीर की क्रियाओं के पारस्परिक प्रभाव का सेतु है—पीनियल ग्लैण्ड। इस ग्रन्थि के माध्यम से मनस् और शरीर के परस्पर प्रभाव को सिद्ध करने वाला यह सिद्धान्त अन्तर्क्रियावाद कहलाता है।
2. **समानान्तरवाद**—इस सिद्धान्त के प्रस्तोता स्पिनोजा के अनुसार शरीर और मनस् दो भिन्न व निरपेक्ष तत्त्व नहीं, बल्कि एक ही द्रव्य के दो पहलू हैं। ये दोनों समानान्तर रेखाओं के समान साथ-साथ चलते हैं और एक दूसरे पर इनका प्रभाव नजर आता है। मूलतः इनकी परस्पर क्रिया का आधार है ईश्वर। एक ही ईश्वर से सम्बद्ध होने के कारण ही एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।
3. **पूर्वस्थापित सामञ्जस्य**—लाइब्नीज के अनुसार न शरीर से मनस् प्रभावित होता है और न मनस् से शरीर। वे अपनी-अपनी क्रियाएं स्वतंत्र रूप से करते हैं, दोनों के अपने-अपने कारण और नियम हैं। फिर भी ईश्वर ने उनमें एक ऐसा सामञ्जस्य स्थापित कर दिया है कि उनमें परस्पर प्रभाव परिलक्षित होता है। उन्होंने घड़ीसाज और घड़ियों के उदाहरण से इसकी व्याख्या की। जैसे दो घड़ियां समान समय बताती हैं उसका कारण है घड़ीसाज ने उनमें ऐसी व्यवस्था कर दी है न कि वे एक दूसरे से प्रभावित हैं। मनस् और शरीर में स्थापित इस व्यवस्था को ही पूर्वस्थापित सामञ्जस्य कहा गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. **नव्योत्क्रान्तिवाद—कुछ** आधुनिक विचारकों के अनुसार मनस् शरीर से ही निकला हुआ नव्योत्क्रान्त—नवीन उत्पाद है। मन के प्रादुर्भाव से शरीर वैसे ही गौण हो जाता है जैसे नए के प्रभाव से पुराना।

इस प्रकार पाश्चात्य दर्शन में जीव और पुद्गल के भेद-अभेद के विषय में तो विचार नहीं हुआ पर मनस् और शरीर के सम्बन्ध के विषय में अवश्य विचार हुआ है। जीव की अवधारणा पाश्चात्य दर्शन में नहीं के बराबर है और मन को भी जीव माना जाता है इस दृष्टि से शरीर मनस् सम्बन्ध-सम्बन्धी सिद्धान्तों का भी जीव पुद्गल के सम्बन्ध से तुलनात्मक विचार युक्ति संगत है।

6.4 सारांश

जैनदर्शन में ठाणं, भगवती जैसे प्राचीन आगमों से लेकर दार्शनिक युग तक इस विषय में काफी विचार हुआ है। विशेषावश्यक भाष्य में भी इसकी विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है। वस्तुतः जैनदर्शन अनेकान्तवादी है। वह जीव और पुद्गल का गुणात्मक दृष्टि से भिन्न अस्तित्व स्वीकार करता है साथ ही परस्पर एक क्षेत्रावगाही एवं स्नेहप्रतिबद्ध होने के कारण उनके अभेद का भी प्रतिपादन करता है।

6.5 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जीव और पुद्गल के भोदाभेद के सम्बन्ध में दिवाकर सिद्धसेन के विचारों को विस्तार से प्रस्तुत करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. शरीर मनस् सम्बन्ध के विषय में पाश्चात्य विचारकों ने किन-किन मतों का प्रतिपादन किया। विश्लेषण करें।
2. नव्योत्क्रान्तिवाद क्या है? स्पष्ट करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

संक्षेप में उत्तर दें—

1. द्वैतवाद की दृष्टि से संसार को मुख्यतः कितनी श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है?
2. जीव और अजीव में परस्पर कौनसा अभाव है और क्यों?
3. मनस् और शरीर के सम्बन्ध को घड़ीसाज और घड़ियों के उदाहरण से समझाने वाला दार्शनिक कौन था?
4. एगे आया किस आगम ग्रन्थ का सूत्र है?
5. राजप्रश्नीय सूत्र में किन-किन का संवाद वर्णित है?
6. बौद्ध पिटकों में कौन से पांच स्कन्धों का वर्णन आता है?
7. स्नेहप्रतिबद्ध शब्द में जीव और पुद्गल का स्नेह किस-किस को बताया गया है?
8. संसारी जीव और पुद्गल की अभिन्नता को बताने के लिए सिद्धसेन ने किस का उदाहरण दिया है?
9. सूत्रकृतांग सूत्र में चार्वाक दर्शन के लिए किस मत का उल्लेख हुआ है?
10. देकार्त ने शरीर मनस् सम्बन्ध के विषय में किस मत का प्रतिपादन किया?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. दो श्रेणियों में, 2. अत्यन्ताभाव, 3. लाइब्नीज, 4. ठाणं
5. राजा प्रदेशी एवं कुमार श्रमणकेशी का
6. रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध
7. जीव का स्नेह है—आश्रव। पुद्गल में स्नेह है—आकर्षित होने की अर्हता।
8. ठाणं सूत्र का, 9. पंचमहाभूतवाद, 10. अतर्क्रियावाद।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–7 : वस्तु की सामान्य विशेषात्मकता

संरचना

7.0 प्रस्तावना
7.1 उद्देश्य
7.2 अनेकान्तवाद का आधार
7.3 सांख्यदर्शन में सामान्य का स्वरूप एवं इसकी समीक्षा
7.4 वेदान्त मत में सामान्य का स्वरूप एवं उसकी समीक्षा
7.5 बौद्धदर्शन में सामान्य का स्वरूप एवं उसकी समीक्षा
7.6 नैयायिक वैशेषिक दर्शन में सामान्य विशेष का स्वरूप एवं उसकी समीक्षा
7.7 जैन दृष्टि में सत्ता के भेद
    7.7.1 स्वरूपास्तित्व और सन्तान
    7.7.2 संतान का खोखलापन
    7.2.3 उच्छेदात्मक निर्वाण अप्रतीतिक है
7.8 सादृश्यास्तित्व
    7.8.1 दो विशेष
7.9 सामान्य विशेषात्मक अर्थात द्रव्य पर्यायात्मक
7.10 सारांश
7.11 अभ्यास प्रश्नावली

7.0 पृष्ठभूमि

अस्तित्व की जिज्ञासा के साथ दर्शन का जन्म होता है। जैनदर्शन द्वैतवाद का पक्षधर है। इसके अनुसार जड़ और चेतन ये दो तत्त्व विश्व-व्यवस्था के नियामक हैं। दोनों का स्वभाव एवं अस्तित्व स्वतंत्र है फिर भी उनका परस्पर सम्बन्ध है। द्रव्य, पर्याय दोनों की सापेक्ष स्वीकृति जैनदर्शन में है। भारतीय दर्शनों में वस्तु के संदर्भ में पृथक्-पृथक् मान्यतायें हैं। कूटस्थ द्रव्यवाद के समर्थक वेदान्ती हैं। उनके अनुसार ब्रह्म ही सत्य है, वह कूटस्थ है, एक है। संसार की विविधता अवास्तविक है। सांख्ययोग ने प्रकृति और पुरुष इन दो तत्त्वों को स्वीकार किया है उसका पुरुष भी वेदान्त की तरह कूटस्थ नित्य है। वह अपरिणामी है जबकि प्रकृति परिणामधर्मा है पुरुष के लिए ही वह प्रवृत्ति करती है। अनात्मवाद के प्रबल समर्थक बौद्ध हैं इनके अनुसार परिवर्तन ही सत्य है। इनका द्रव्य जैसी किसी भी सत्ता में विश्वास नहीं है। ये द्रव्य को काल्पनिक मानते हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शनों में वस्तु को सामान्य और विशेष रूप माना गया है परन्तु वे दोनों को निरपेक्ष मानते हैं जबकि जैनदर्शन का आधार वस्तु की कथंचित् सामान्य विशेषात्मकता पर आधारित है। इस दर्शन में द्रव्य और पर्याय की व्याख्या अनेकान्त के आधार पर की गयी है। वह द्रव्य को भी स्वीकार करता है और पर्याय को भी। जैनदर्शन की अनेकान्तमूलक वस्तु व्यवस्था को हम विभिन्न भारतीय दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में इस पाठ में अध्ययन करेंगे।

7.1 उद्देश्य

जैनदर्शन में सत् को समझने के लिए अनेकान्तिक दृष्टि का प्रयोग किया जाता है। एकान्तिकता में सत्य नहीं होता। तत्त्व को जानने के लिए अनेकान्तिक दृष्टि को अपनाना आवश्यक है। अनेकान्तिक दृष्टि से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वस्तु को देखने पर यह ज्ञात होता है कि न वस्तु केवल सामान्य है न केवल विशेष। वस्तु सामान्य विशेषात्मक है और इसी सत्य की विस्तृत जानकारी को प्राप्त करने के लिए हम लिखित पाठ का निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत अध्ययन करेंगे।

7.2 अनेकान्तवाद का आधार

अनेकान्तवाद के आधार पर चार विरोधी युगलों का निर्देश किया जाता है—

1. शाश्वत और परिवर्तन
2. सत् और असत् (अस्तित्व और नास्तित्व)
3. सामान्य और विशेष
4. वाच्य और अवाच्य।

इन चार विरोधी युगलों का निर्देश केवल एक संकेत है, द्रव्य में इस प्रकार के अनन्त विरोधी युगल होते हैं। उन्हीं के आधार पर अनेकान्त का सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ।

हम सत्य को जानते हैं और उसे अभिव्यक्त करते हैं। अर्थ, शब्द और ज्ञान यह उसकी त्रिपुटी है। विभिन्न दार्शनिकों ने उसे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखा। वेदान्त ने उसके तीन रूपों की व्याख्या की— पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक। ब्रह्म पारमार्थिक सत्य है। इन्द्रिय जगत् व्यावहारिक सत्य है। मृग-मरीचिका ज्ञान, स्वप्न ज्ञान प्रातिभासिक सत्य है। बौद्धों ने सत्य को द्विरूप माना है परमार्थ सत्य और संवृत्ति सत्य (व्यावहारिक या काल्पनिक सत्य)। वस्तु का स्वलक्षण (क्षणिकता) परमार्थ सत्य है। वस्तु का सामान्य लक्षण अपोह जनित होने के कारण संवृत्ति सत्य है।

विभिन्न चिन्तकों ने सत्य के विभिन्न रूप उपस्थित किये हैं। उसकी दो आधारशिलायें हैं-निर्विकल्प अनुभूति और सविकल्प ज्ञान। निर्विकल्प अनुभूति में ज्ञेय का साक्षात्कार होता है, इसलिए तद्विषयक बोध भिन्न नहीं होता। ऐन्द्रियक स्तर पर होने वाले सविकल्पज्ञान में ज्ञेय का साक्षात्कार नहीं होता, इसलिए उनका बोध नाना प्रकार का होता है। वेदान्त ने द्रव्य को पारमार्थिक सत्य मानकर पर्याय को काल्पनिक मान लिया। बौद्धों ने पर्याय को परमार्थ सत्य मानकर द्रव्य को काल्पनिक मान लिया। जैन न्याय के अनुसार द्रव्य और पर्याय दोनों पारमार्थिक सत्य हैं। पर्याय की तरंगों के नीचे छिपा हुआ द्रव्य का समुद्र हमें दृष्ट नहीं होता तब पर्याय प्रधान और द्रव्य गौण हो जाता है। द्रव्य के शान्त समुद्र में जब पर्याय की उर्मियां अदृष्ट होती हैं तब द्रव्य प्रधान और पर्याय गौण हो जाता है। वेदान्त का विकल्प समुद्र की अतरंगित अवस्था है और बौद्धों का विकल्प उसकी तरंगित अवस्था है। अनेकान्त की दृष्टि में ये दोनों समन्वित हैं—

"अपर्ययं वस्तु समस्यमानमद्रव्यमेतच्च विविच्यमानं।
आदेशभेदोदितसप्तभङ्ग.मदीदृशस्त्वं बुधरूपवैद्यम्॥" अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका 23

हमारा विकल्प जब संश्लेषणात्मक होता है तब द्रव्य उपस्थित होता है, पर्याय खो जाते हैं और हमारा विकल्प जब विश्लेषणात्मक होता है तब पर्याय उपस्थित रहता है, द्रव्य खो जाता है। अनेकान्त व्यवस्था के युग में कुछ अविनाभाव के नियम निर्धारित किये गये। यह इस युग की महत्त्वपूर्ण निष्पत्ति है।

अनेकान्त का नियम है—सामान्य और विशेष का अविनाभाव। सामान्य विशेष का अविनाभावी है और विशेष सामान्य का अविनाभावी है। इसका फलित यह है कि द्रव्य रहित पर्याय और पर्याय रहित द्रव्य सत्य नहीं है। यथा—

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति॥ पञ्चास्तिकाय गाथा 12

सत्य और मिथ्या के बीच में कोई विशेष दूरी नहीं है। एक विकल्प सत्य और दूसरा विकल्प असत्य ऐसी विभाजन रेखा नहीं है। केवल इतनी सी दूरी है कि सामान्य विशेष से निरपेक्ष होता है और विशेष

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सामान्य से निरपेक्ष होता है तो वे दोनों विकल्प मिथ्या हो जाते हैं। दोनों एक दूसरे के प्रति सापेक्ष होते हैं तो दोनों विकल्प सत्य हो जाते हैं। दोनों एक-दूसरे का निरसन करते हैं तो वे मिथ्या हो जाते हैं और दोनों अपने विषय का प्रतिपादन करते हैं तो सत्य हो जाते हैं।

7.3 सांख्यदर्शन में सामान्य स्वरूप एवं समीक्षा

सांख्य दर्शन में 25 तत्त्वों का वर्णन किया गया है। प्रकृति से महत् तत्त्व की, महान् से अहंकार की, अहंकार से सोलह (पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय एवं मन और पांच तन्मात्राओं) की और सोलह में आयी हुई पांच तन्मात्राओं से पांच भूतों की उत्पत्ति होती है। ये 24 तत्त्व हैं। पच्चीसवां तत्त्व पुरुष है जो निष्क्रिय, कूटस्थ, नित्य, व्यापक और ज्ञानादि परिणामों से शून्य केवल चेतन है। यह पुरुष तत्त्व अनेक हैं और सबकी अपनी स्वतंत्र सत्ता है। प्रकृति परिणामी नित्य है इसमें एक अवस्था तिरोहित होकर दूसरी अवस्था आविर्भूत होती है। यह एक है, त्रिगुणात्मक है, विषय है, सामान्य है और महान् आदि विकारों को उत्पन्न करती है जैसा कि सांख्यकारिका में कहा गया है—

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥

सांख्यों ने प्रकृति अथवा प्रधान पर, जो सामान्य रूप है, अधिक बल दिया है। पुरुष को सांख्य मानते अवश्य हैं पर वह पुष्कर-पलाश के समान निर्लेप है। उसे न बन्ध होता है और न मोक्ष। बन्ध और मोक्ष दोनों प्रकृति को ही होते हैं।

व्यक्त और अव्यक्त में सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण पाये जाते हैं। उनमें प्रकृति और पुरुष का विवेक नहीं रहता है, वे पुरुष के भोग्य होते हैं, सामान्य तथा अचेतन होते हैं और उनका स्वभाव उत्पत्ति करने का है। पुरुष का लक्षण इससे भिन्न है। पुरुष में तीन गुण नहीं पाये जाते हैं, भेद विज्ञान पाया जाता है, पुरुष किसी का भोग्य नहीं है, विशेष तथा चेतन है, पुरुष का स्वभाव किसी की उत्पत्ति करने का नहीं है, पुरुष कारण रहित, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, निरवयव और स्वतंत्र है। इस प्रकार अन्योन्याभाव आदि के न मानने से सांख्य मत में किसी भी तत्त्व की व्यवस्था नहीं हो सकती है।

यदि सांख्य व्यक्त और अव्यक्त में अन्योन्याभाव को व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप, प्रकृति और पुरुष में अत्यन्ताभाव को प्रकृति और पुरुष स्वरूप, बुद्धि आदि के प्राग्भाव को बुद्धि आदि के कारण रूप और पञ्च महाभूतों के प्रध्वंसाभाव को तन्मात्रारूप मान लेता है तो ऐसा मानना ठीक है क्योंकि अभाव कोई पृथक् पदार्थ नहीं है जैसा कि नैयायिक मानते हैं, किन्तु एक पदार्थ का अभाव दूसरे पदार्थरूप होता है, जैसे कि घट का अभाव भूतल स्वरूप है किन्तु ऐसा मानने से सांख्य का भावैकान्त नहीं बनेगा।

इसी प्रकार पर्याय रहित द्रव्यैकान्त मानने पर एक ही वस्तु सब रूप हो जायेगी और ऐसा होने पर प्रकृति और पुरुष में कोई विशेषता नहीं रहेगी क्योंकि प्रकृति और पुरुष में सत्ता की दृष्टि से ऐक्य है।

7.4 वेदान्त मत में सामान्य स्वरूप एवं समीक्षा

वेदान्तवादियों के अनुसार ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता है। वे किसी प्रमाण से घट, पट आदि विशेषों का निराकरण नहीं करते हैं किन्तु उनका कहना है कि भेदवादियों द्वारा विशेषों को सिद्ध करने के लिए जो साधन दिये जाते हैं उनके सदोष होने से विशेषों का निराकरण स्वयं हो जाता है। भेदवादियों के अनुसार कारणों की अनेकता कार्य में अनेकता की साधक है किन्तु वेदान्ती कारणों में अनेकता को मानते ही नहीं है। वे कहते हैं कि जो लोग प्रतिभास (ज्ञान) के भेद से नाना पदार्थ मानते हैं उनका वैसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि वस्तु के एक होने पर भी भ्रमवश उसका नानारूप से प्रतिभास देखा जाता है। कहा भी है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो नरः।
संकीर्णमिव मात्राभिर्भिन्नाभिरभिमन्यते॥
तथेदममलं ब्रह्म निर्विकल्पमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति॥ **वृहदा.भा.वा. 3/5/43-44**

आकाश को विशुद्ध और एक होने पर भी जिसको तिमिर रोग हो गया है वह नर आकाश में नाना प्रकार की रेखायें देखता हैं। उसी प्रकार अज्ञानी जन निर्मल और भेद रहित ब्रह्म को कलुषित और भेद रूप देखता है।

वेदान्तवादियों का यह कथन कि सन्मात्र परम ब्रह्म ही एक अद्वितीय तत्त्व है युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है। सब लोग प्रत्यक्ष से घट, पट आदि भिन्न-भिन्न पदार्थों की सत्ता को उपलब्ध करते हैं। यदि घट, पट आदि पदार्थ ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं तो उनमें अभेद की सिद्धि करने वाला कोई साधन होना चाहिए। घट-पट आदि पदार्थ ब्रह्म से अभिन्न हैं क्योंकि वे ब्रह्म स्वरूप हैं, या ब्रह्म के कार्य हैं अथवा ब्रह्म के स्वभाव हैं, इत्यादि साधनों को साध्य (ब्रह्म) से अभिन्न मानना पड़ेगा क्योंकि उनको ब्रह्म से भिन्न मानने में द्वैत सिद्धि होगी और जब साध्य और साधन अभिन्न हैं तब यह साध्य है और यह साधन है ऐसा विकल्प संभव न होने से एकत्व की सिद्धि संभव नहीं है। सब पदार्थ ब्रह्म के अन्तर्गत हैं क्योंकि वे प्रतिभासमान हैं जैसे ब्रह्म का स्वरूप। इस अनुमान से भी ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि पक्ष, हेतु, दृष्टान्त आदि का भेद यदि सत्य है तो द्वैत सिद्धि अनिवार्य है और यदि पक्ष, हेतु आदि की ब्रह्म से पृथक् सत्ता नहीं है तो ये ब्रह्म के साधक कैसे हो सकते हैं। यही बात आगम प्रमाण के विषय में भी है। वेदान्ती कहते हैं—

ऊर्णनाभ इवांशूनां चन्द्रकान्त इवांभसाम्।
प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतुः सर्वजन्मिनाम्॥

जैसे मकड़ी अपने जाल के तन्तुओं का कारण है, चन्द्रकान्तमणि पानी का कारण है और वट्वृक्ष प्ररोहों (जटाओं) का कारण है, उसी प्रकार ब्रह्म सब प्राणियों की उत्पत्ति का कारण है।

इस प्रकार के आगम से ब्रह्म की सिद्धि करने पर भी वही प्रश्न होगा कि यह आगम ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न। भिन्न पक्ष में द्वैत का प्रसंग आता है और अभिन्न पक्ष में उनमें साध्य-साधक भाव ही नहीं हो सकता है। इस प्रकार ब्रह्म का साधक न प्रत्यक्ष है, न अनुमान है और न आगम है। और प्रमाण के अभाव में किसी वस्तु की स्वतः सिद्धि की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। यदि स्वयं ही किसी वस्तु को सिद्धि मान ली जाय तो प्रत्येक मत की सिद्धि स्वतः हो जायेगी। तब ब्रह्माद्वैत की तरह संवेदनाद्वैत की भी स्वतः सिद्धि माननी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में अनेकान्त की भी स्वतः सिद्धि होने में कोई बाधा नहीं है अतः ब्रह्माद्वैत की सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं होती है।

7.5 बौद्धदर्शन में सामान्य विशेष का स्वरूप एवं समीक्षा

बौद्धदर्शन में सामान्य पदार्थ के विषय में एक विशिष्ट कल्पना है। सामान्य एक कल्पनात्मक वस्तु है। इस दर्शन के अनुसार सत्य के दो रूप हैं पारमार्थिक सत्य और संवृत्ति सत्य। अनित्यता का बोध पारमार्थिक सत्य है। 'यह वही है' इस प्रकार का सादृश्य बोध संवृत्ति सत्य है। सामान्य को संवृत्ति सत् (अवास्तविक) माना गया है। बौद्धदर्शन गोत्व, मनुष्यत्व आदि को कोई वास्तविक पदार्थ नहीं मानता है। जितने मनुष्य हैं वे सब अमनुष्य से (पृथक्) हैं तथा सब एक सरीखा कार्य करते हैं। अतः उनमें एक मनुष्यत्व सामान्य की कल्पना कर ली गई है। यही बात गोत्व आदि सामान्य के विषय में भी जान लेना चाहिए। गोत्व, मनुष्यत्व आदि सामान्य अतद्व्यावृत्तिरूप है अर्थात् गोत्व सामान्य अगोव्यावृत्तिरूप है और मनुष्यत्व सामान्य अमनुष्यत्व व्यावृत्ति रूप है। सब गायों में अगोव्यावृत्ति रहती है और इसी अगोव्यावृत्ति को सामान्य माना गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

बौद्धदर्शन में दो ही तत्त्व हैं विशेष और सामान्य। विशेष को स्वलक्षण कहते हैं। स्वलक्षण को परमार्थसत् माना गया है। बौद्धों का कथन है कि विशेष को छोड़कर अन्य कोई वास्तविक तत्त्व नहीं है। यह सामान्य है और यह विशेष है ऐसा बुद्धिभेद कभी नहीं होता है तथा बुद्धिभेद के बिना पदार्थों में भेद की व्यवस्था नहीं की जा सकती है अतः खण्डी, मुण्डी आदि गौ व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य किसी सामान्य की प्रतीति न होने से जैनों के द्वारा माना गया सामान्य का लक्षण अवास्तविक है, ऐसी बौद्धों की मान्यता है।

जैनदर्शन की दृष्टि से बौद्धों की उक्त मान्यता समीचीन नहीं है क्योंकि 'गौ, गौ' इत्यादि रूप से अबाधित प्रत्यय के विषयभूत गोत्वादि सामान्य का अभाव नहीं किया जा सकता है। यदि जो अबाधित प्रत्यय का विषय है उसका भी असत्त्व माना जाये तो विशेष का भी असत्त्व मानना पड़ेगा। बुद्धि में जो अनुगताकार की प्रतीति होती है वह किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं होती है। वह प्रत्येक देश में और प्रत्येक काल में अबाधित ही रहती है और पदार्थों में सामान्य के व्यवहार का हेतु होती है। अतः अनुगताकार का प्रतिभास करने वाली अबाधित बुद्धि अनुगताकाररूप वस्तुभूत सामान्य की सिद्धि करती है। बौद्धों का यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि सामान्य और विशेष में बुद्धिभेद न होने के कारण विशेष को छोड़कर अन्य कोई वास्तविक सामान्य नहीं है क्योंकि सामान्य और विशेष में बुद्धिभेद प्रतीति सिद्ध है। एक ही आश्रय में रहने वाले रूपरसादि में भी बुद्धिभेद के कारण ही भेद की सिद्धि होती है। यदि एकेन्द्रिय (चक्षु) के विषय होने के कारण गोत्वादि सामान्य और कृष्ण, श्वेत आदि गौरूप विशेष में अभेद माना जाये तो वात और आतप में भी अभेद मानना पड़ेगा क्योंकि वे भी एकेन्द्रिय (स्पर्शनेन्द्रिय) के विषय होते हैं। अतः सर्वत्र प्रतिभास भेद ही भेदव्यवस्था का हेतु होता है।

अनुगताकार सामान्य प्रतिभास का और व्यावृत्ताकार विशेष प्रतिभास का अनुभव यह सिद्ध करता है कि सामान्य और विशेष दोनों का पृथक् अस्तित्व है। अनुगताकार जो सामान्य प्रतिभास होता है वह बाह्य में साधारण निमित्त गोत्वादि सामान्य के बिना नहीं हो सकता है। असाधारण व्यक्ति विशेष भी सामान्य प्रतिभास के हेतु नहीं हो सकते हैं क्योंकि वे तो भेदरूप होने के कारण भेद प्रतिभास ही करायेंगे। सामान्य को अतद्व्यावृत्तिरूप अथवा अतत्कार्यकारण रूप मानना भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि यदि खण्डी, मुण्डी आदि गायों में सदृश परिणमनरूप सामान्य नहीं रहेगा तो उनमें अगौव्यावृत्ति तथा अतत्कार्य कारणव्यावृत्ति भी नहीं बन सकती। अतत्कार्यकारणव्यावृत्ति का मतलब यह है कि अश्वादि व्यक्तियों की गौ आदि व्यक्तियों के साथ कार्यकारणभाव की व्यावृत्ति है। अर्थात् अश्वादि गौ आदि का न तो कारण है और न कार्य है। अतः गौ में अतत्कार्यकारणव्यावृत्ति रहती है ऐसा बौद्ध मानते हैं किन्तु इस प्रकार की अतत्कार्यकारणव्यावृत्ति गायों में गोत्व सामान्य के बिना नहीं सकती है। यदि अनुगत प्रत्यय सामान्य के बिना भी हो जाता है तो फिर व्यावृत्त प्रत्यय विशेष के बिना हो जाने का प्रसंग प्राप्त होगा। इसलिए अनुगताकार प्रतिभास का आलम्बन वस्तुभूत सामान्य को मानना बौद्धों के लिए अपरिहार्य है। इस प्रकार बौद्धाभिमत संवृत्ति सत् सामान्य का निराकरण करके यहां सामान्य को परमार्थसत् सिद्ध किया गया है।

जैन दृष्टि से स्वलक्षण और सामान्य में भेद करना ठीक नहीं है। यदि स्वलक्षण शब्द की व्युत्पत्ति की जाये तो 'स्वं असाधारणं लक्षणं यस्येति स्वलक्षणम्' यह व्युत्पत्ति होगी। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस प्रकार विशेष विसदृश परिणामरूप अपने असाधारण लक्षण से युक्त है उसी प्रकार सामान्य भी सदृश परिणाम रूप अपने असाधारण लक्षण से युक्त है। इस दृष्टि से असाधारण लक्षण से युक्त होने के कारण दोनों में कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार विशेष व्यावृत्ति ज्ञान रूप अर्थक्रिया करता है उसी प्रकार सामान्य भी अनुवृत्ति ज्ञानरूप अर्थक्रिया करता है। भारवहन, दोहन आदि अर्थक्रिया करने में जिस प्रकार केवल सामान्य समर्थ नहीं है किन्तु सामान्य विशेषात्मक गौ ही उक्त अर्थक्रिया करती है इसलिए अर्थक्रिया की दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इसके अतिरिक्त ऐसा भी नहीं है कि सामान्य और विशेष दोनों पृथक्-पृथक् हों जैसाकि नैयायिक-वैशेषिक मानते हैं। विशेष रहित सामान्य आकाश-पुष्प के समान अवस्तु ही है। कहा भी है—

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्।
सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि॥ **आ. प. श्लोक**

7.6 नैयायिक-वैशेषिक दर्शन में सामान्य-विशेष का स्वरूप एवं समीक्षा

जिसके कारण एक जाति की वस्तुओं में अनुगत (सदृश) प्रतीति होती है उसे सामान्य कहते हैं। जैसे गोत्व, मनुष्यत्व आदि सामान्य कहलाते हैं। सामान्य, नित्य, एक, व्यापक, निष्क्रिय और निरंश है। कारिकावली में कहा है—

सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च।
द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते॥
परभिन्ना च या जातिः सैवापरतयोच्यते।
द्रव्यत्वादिक जातिस्तु परापरतयोच्यते ॥ कारिका 8, 9

सामान्य के दो भेद हैं परसामान्य और अपरसामान्य। इनमें सत्ता या सत्त्व पर सामान्य है तथा द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, गोत्व, मनुष्यत्व आदि अपरसामान्य कहलाते हैं। गाय के उत्पन्न होने पर गोत्व सामान्य उत्पन्न नहीं होता है और गाय के मर जाने पर गोत्व सामान्य का नाश नहीं होता है क्योंकि वह नित्य है। गोत्वादि सामान्य एक है, अनेक नहीं। एक ही गोत्व सामान्य सब गायों में रहता है। सामान्य व्यापक है। एक ही सामान्य सर्वत्र पाया जाता है अर्थात् एक ही गोत्व सामान्य समस्त गायों में विद्यमान रहता है। ऐसा नहीं है कि पृथक्-पृथक् गायों में पृथक्-पृथक् गोत्व सामान्य रहता हो। व्यापक होने के कारण सामान्य निष्क्रिय है। जो व्यापक होता है उसमें क्रिया नहीं होती है। जैसे आकाश में क्रिया नहीं पायी जाती। सामान्य निरंश होता है। जब सामान्य एक और व्यापक है तो उनमें अंशों की कल्पना नहीं की जा सकती है ऐसा नैयायिक-वैशेषिकों का मत है।

सामान्य के विषय में नैयायिक-वैशेषिकों का उक्त अभिमत सर्वथा निर्दोष नहीं है। उक्त मत में सामान्य का जो स्वरूप बतलाया गया है वह तो ठीक है, किन्तु सामान्य को एक, नित्य और व्यापक मानना युक्तिसंगत नहीं है। सामान्य को सर्वथा नित्य मानने पर उसके द्वारा अर्थक्रिया नहीं हो सकती है। सर्वथा नित्य वस्तु न तो क्रम से अर्थक्रिया कर सकती है और न युगपद्। जो पदार्थ अर्थक्रिया नहीं करता है वह वस्तु नहीं कहला सकता है क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तु का लक्षण है। यदि सामान्य एक और व्यापक है तो विभिन्न गौ व्यक्तियों के अन्तराल में गोत्व सामान्य की उपलब्धि होती है। गाय रहित प्रदेश में कभी भी गोत्व नहीं पाया जाता है। एक प्रश्न यह भी है कि एक गाय में गोत्व सामान्य पूर्णरूप से रहता है या अंश रूप से। यदि गोत्व एक है और वह एक गाय में पूर्णरूप से रहता है तो दूसरी गायों में गोत्व कैसे रहेगा? सामान्य को निरंश मानने के कारण ऐसा भी नहीं माना जा सकता है कि विभिन्न गायों में सामान्य अंश रूप से रहता है।

योगों (नैयायिक-वैशेषिक) ने सामान्य को विशेषों से पृथक् माना है। गोत्व पृथक् है और गाय पृथक् है तथा गोत्व सामान्य सब गायों में समवाय सम्बन्ध से रहता है किन्तु सामान्य और विशेष को पृथक्-पृथक् मानना युक्तिसंगत नहीं है। यथार्थ बात तो यह है कि सामान्य और विशेष परस्पर में पृथग्भूत न होकर अपृथग्भूत है। नैयायिक-वैशेषिकों द्वारा अभिमत नित्य, व्यापक, एक, निष्क्रिय और निरंश सामान्य का बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्त्ति ने जो तार्किक खण्डन किया है उसका उत्तर देना उनके लिए अत्यन्त कठिन है। धर्मकीर्त्ति ने इस विषय में प्रमाणवार्तिक में कहा है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत्।
जहाति पूर्वमाधारमहो व्यसनसन्ततिः॥

इस श्लोक का विशेषार्थ इस प्रकार है। एक गाय के उत्पन्न होने पर उसमें गोत्व सामान्य कहां से आता है। किसी दूसरे स्थान से या दूसरे गोपिण्ड से तो गोत्व सामान्य इस गाय में आ नहीं सकता है क्योंकि नैयायिकों के द्वारा सामान्य को निष्क्रिय माना गया है। यदि ऐसा माना जाय कि सामान्य वहां पहले से ही था तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि आधार के बिना वहां सामान्य कैसे रह सकता है। गाय के उत्पन्न हो जाने के बाद भी गोत्व सामान्य वहां उत्पन्न नहीं हो सकता है क्योंकि सामान्य नित्य है। ऐसा भी नहीं हो सकता है कि दूसरी गाय के गोत्व सामान्य का एक अंश इस गाय में आ जाय क्योंकि सामान्य निरंश है। यह भी संभव नहीं कि पहली गाय को पूर्णरूप से छोड़कर गोत्व सामान्य पूरा का पूरा इस गाय में आ जाये क्योंकि ऐसा मानने पर पहली गाय गोत्वरहित हो जाने के कारण गाय ही नहीं रह जायेगी। अतः ऐसा मानना ही युक्तिसंगत है कि सदृश परिणाम लक्षण सामान्य विशेष-परिणाम-लक्षण विशेष की तरह प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न है। इस प्रकार योगाभिमत सामान्य में अनेक दोष आने के कारण गोत्वादि सामान्य को अनेक, अनित्य और अत्यावश्यक मानना ही श्रेयस्कर है।

वैशेषिक विशेष को एक पृथक् पदार्थ मानते हैं। इसी विशेष पदार्थ को मानने के कारण उसका नाम वैशेषिक प्रसिद्ध हुआ। विशेष नित्य और अनेक हैं। विशेष पदार्थ नित्य द्रव्यों में रहता है। विशेष पदार्थ का काम है—एक समान पदार्थों में भेद की प्रतीति कराना। पृथ्वी के सब परमाणु समान हैं, फिर भी एक परमाणु से दूसरा परमाणु भिन्न है क्योंकि प्रत्येक परमाणु में पृथक्-पृथक् विशेष पदार्थ रहता है। इस कारण प्रत्येक परमाणु की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। इसी प्रकार सब आत्माएं समान हैं, किन्तु प्रत्येक आत्मा में विशेष पदार्थ रहता है। इसलिए एक आत्मा से दूसरी आत्मा की पृथक् प्रतीति होती है। यही बात मन के विषय में भी है। प्रत्येक मन में एक विशेष पदार्थ रहता है। वह एक मन को दूसरे मन से व्यावृत्त करता है। विशेषों के विषय में एक विशेष बात यह है कि ये स्वतः व्यावर्तक होते हैं अर्थात् एक विशेष से दूसरे विशेष में भेद स्वतः ही होता है। इस काम के लिए किसी दूसरे पदार्थ की आवश्यकता नहीं है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार एक परमाणु से दूसरे परमाणु में भेद कराने के लिए विशेष पदार्थ माना गया है, उसी प्रकार एक विशेष से दूसरे विशेष में भेद कराने के लिए किसी अन्य पदार्थ की आवश्यकता नहीं है क्योंकि एक विशेष स्वयं ही दूसरे विशेष से भेद कराने में सक्षम है। ऐसा वैशेषिकों का सिद्धान्त है।

वैशेषिकों के द्वारा माना गया विशेष पदार्थ सिद्ध नहीं होता है क्योंकि उसका साधक कोई प्रमाण नहीं है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि विशेष नित्य द्रव्यों में रहते हैं क्योंकि सर्वथा नित्य कोई द्रव्य नहीं है। संसार के समस्त पदार्थ कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य हैं। जितने परमाणु आदि नित्य पदार्थ हैं वे सब अपने असंकीर्ण स्वभाव (दूसरे पदार्थों से सर्वथा पृथक् स्वभाव) में अवस्थित हैं और उसी स्वभाव के कारण वे दूसरे पदार्थों से व्यावृत्त हो जाते हैं। अतः इनमें परस्पर में व्यावृत्ति कराने के लिए पृथक् विशेष पदार्थ मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। वैशेषिकों ने स्वयं माना है कि विशेष पदार्थों में विशेष नामक पदार्थ नहीं रहता है, फिर भी एक विशेष दूसरे विशेष से स्वतः व्यावृत्त हो जाता है। उसी प्रकार परमाणु आत्मा आदि अन्य समस्त पदार्थ भी अपने-अपने असंकीर्ण स्वभाव की अपेक्षा से परस्पर में व्यावर्तक हो जाते हैं। ऐसा मानने में कोई विरोध भी नहीं है। इसलिए परमाणु आत्मा आदि में परस्पर में भेद कराने के लिए किसी विशेष पदार्थ की कल्पना करना तर्कसंगत नहीं है।

तादात्म्य की अपेक्षा से ही सामान्य-विशेष की भिन्नता का समर्थन किया जाता है। यह दृष्टि नैगम नय है। यह उभयग्राही दृष्टि है। सामान्य और विशेष दोनों इसके विषय हैं। इससे सामान्य-विशेषात्मक वस्तु के एक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

देश का बोध होता है। सामान्य और विशेष स्वतन्त्र पदार्थ हैं—इस कणाददृष्टि को जैनदर्शन स्वीकार नहीं करता। कारण, सामान्य-रहित विशेष और विशेष रहित सामान्य की कहीं भी प्रतीति नहीं होती। ये दोनों पदार्थ के धर्म हैं। एक पदार्थ की दूसरे पदार्थ, देश और काल में जो अनुवृत्ति होती है, वह सामान्य अंश और जो व्यावृत्ति होती है, वह विशेष अंश। केवल अनुवृत्ति रूप या केवल व्यावृत्ति-रूप कोई पदार्थ नहीं होता। जिस पदार्थ की जिस समय दूसरों से अनुवृत्ति मिलती है उसकी उसी समय दूसरों से व्यावृत्ति भी मिलती है। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—

स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो भावा न भावान्तरनेयरूपाः।
परात्मतत्त्वादतथात्मतत्वाद् द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति॥

सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ का ज्ञान प्रमाण से हो सकता है। अखण्ड वस्तु प्रमाण का विषय है। नय का विषय उसका एकांश है। नैगम नय बोध कराने के अनेक मार्गों का स्पर्श करने वाला है, फिर भी प्रमाण नहीं है। प्रमाण में सब धर्मों को मुख्य स्थान मिलता है। यहां सामान्य के मुख्य होने पर विशेष गौण रहेगा और विशेष के मुख्य बनने पर सामान्य गौण।

सामान्य में विशेष का और विशेष में सामान्य का जो कथन किया जाता है वह द्रव्य, गुण और उनकी पर्यायों को भिन्न-भिन्न रूप में बतलाता हुआ तीनों को एक नियत करता है। भाव यह है कि प्रमाण विषयक पदार्थ 'सामान्य विशेषात्मक' है। सामान्य विशेष को छोड़कर और विशेष सामान्य को छोड़कर अन्यत्र स्वतंत्र रूप से उपलब्ध नहीं होता किन्तु वक्ता की विवक्षा में जो सामान्य होता है वही विशेष बन जाता है। सामान्य विशेष के बिना और विशेष सामान्य के बिना किसी भी पदार्थ में नहीं रहते।

सामण अह विसेसे दव्वे णाणं हवेइ अविरोहो।
साहइ तं सम्मत्तं पहु पुण तं तस्स विवरीयं॥ नयचक्र

सामान्य अथवा विशेष रूप द्रव्य में जो विरोध रहित ज्ञान होता है वह सम्यक्त्व का साधक है, जो उससे विपरीत होता है वह नहीं।

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः॥ परीक्षामुख 4/1

अर्थ—सामान्य विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय है।

उस प्रमाण के ग्राह्य पदार्थ को तदर्थ कहते हैं, वह प्रमाण का विषय है वह पदार्थ सामान्य विशेषात्मक विशेषण से विशिष्ट है। सामान्य और विशेष ये दोनों जिसकी आत्मा है यह विगह है। सामान्य और विशेष इन दोनों पदों का ग्रहण तथा आत्म-पद का ग्रहण केवल सामान्य, केवल विशेष और स्वतंत्र सामान्य विशेष की प्रमाण विषयता के निषेध के लिए है।

7.7 जैन दृष्टि में सत्ता के भेद

प्रत्येक पदार्थ में दो प्रकार के अस्तित्व हैं— स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व। प्रत्येक द्रव्य को अन्य सजातीय या विजातीय द्रव्य से असंकीर्ण रखने वाला और उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व का प्रयोजक स्वरूपास्तित्व है। इसी के कारण प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें अपने से भिन्न किसी भी सजातीय या विजातीय द्रव्य की पर्यायों से असंकीर्ण बनी रहती हैं और अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखती हैं। यह स्वरूपास्तित्व जहां इतर द्रव्यों से विवक्षितद्रव्य की व्यावृत्ति कराता है, वहां अपनी कालक्रम से होने वाली पर्यायों में अनुगत भी रहता है। इस स्वरूपास्तित्व से अपनी पर्यायों में अनुगत प्रत्यय उत्पन्न होता है और इतर द्रव्यों से व्यावृत्त प्रत्यय। इस स्वरूपास्तित्व को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। यही द्रव्य कहलाता है क्योंकि यही अपनी क्रमिक पर्यायों में द्रवित होता है, संतति परम्परा से प्राप्त होता है। बौद्धों की संतति और इस स्वरूपास्तित्व में निम्नलिखित भेद विचारणीय है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

7.7.1 स्वरूपास्तित्व और सन्तान

जिस प्रकार जैन एक स्वरूपास्तित्व अर्थात् ध्रौव्य या द्रव्य मानते हैं, उसी तरह बौद्ध सन्तान स्वीकार करते हैं, उसमें ऐसा कोई भी स्थायी अंश नहीं बचता जो द्वितीय क्षण में पर्यायों के रूप में न बदलता हो। यदि यह माना जाये कि उसका कोई एक अंश बिल्कुल अपरिवर्तनशील रहता है और कुछ अंश परिवर्तनशील तो नित्य तथा क्षणिक दोनों पक्षों में दिये जाने वाले दोष ऐसी वस्तु में आयेंगे। कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध मानने के कारण पर्यायों के परिवर्तित होने पर द्रव्य में कोई अपरिवर्तिष्णु अंश बच ही नहीं सकता। अन्यथा उस अपरिवर्तिष्णु अंश से तादात्म्य रखने के कारण शेष अंश भी अपरिवर्तनशील ही सिद्ध होंगे। इस तरह कोई एक मार्ग ही पकड़ना होगा या तो वस्तु नित्य मानी जाये, या बिल्कुल परिवर्तनशील यानी चेतन वस्तु भी अचेतन रूप से परिणमन करने वाली। इन दोनों अंतिम सीमाओं के मध्य का ही वह मार्ग है, जिसे हम द्रव्य कहते हैं। जो न बिल्कुल अपरिवर्तनशील है और न इतना विलक्षण परिवर्तन करने वाला, जिससे एक द्रव्य अपनी द्रव्यत्व की सीमा को लांघकर दूसरे किसी सजातीय या विजातीय द्रव्य रूप से परिणत हो जाय।

सीधे शब्दों में ध्रौव्य की यही परिभाषा हो सकती है कि 'किसी एक द्रव्य के प्रतिक्षण परिणमन करते रहने पर भी उसका किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तररूप से परिणमन नहीं होता।' इस स्वरूपास्तित्व का नाम ही द्रव्य, ध्रौव्य या गुण है। बौद्धों के द्वारा मानी गई सन्तान का भी यही कार्य है। वह नियत पूर्वक्षण का नियत उत्तरक्षण के साथ ही समनन्तर प्रत्यय के रूप में कार्यकारणभाव बनाता है, अन्य सजातीय या विजातीय क्षणान्तर से नहीं। तात्पर्य यह है कि इस सन्तान के कारण एक पूर्व चेतन क्षण अपनी धारा के उत्तर चेतन क्षण के लिए ही समनन्तर प्रत्यय यानी उपादान होता है, अन्य चेतनान्तर या अचेतनक्षण का नहीं। इस तरह तात्त्विकदृष्टि से द्रव्य या संतान के कार्य या उपयोग में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर तो केवल उसके शाब्दिक स्वरूप के निरूपण में है। बौद्ध इस सन्तान को पंक्ति और सेना व्यवहार की तरह 'मृषा' कहते हैं जैसाकि बोधिचर्यावतार में लिखा है—**सन्तानः समुदायश्च पङ्क्तिसेनादिवन्मृषा।**

जैसे दस मनुष्य एक लाइन में खड़े हैं और अमुक मनुष्य घोड़े आदि का एक समुदाय है, तो उनमें पंक्ति या सेना नाम की कोई एक अनुस्यूत वस्तु नहीं है, फिर भी उनमें पंक्ति और सेना व्यवहार हो जाता है, उसी तरह पूर्व और उत्तर क्षण में व्यवहृत होने वाली सन्तान भी असत्य है। इस सन्तान की स्थिति से द्रव्य की स्थिति विलक्षण प्रकार की है। वह किसी मनुष्य के दिमाग में रहने वाली केवल कल्पना नहीं है, किन्तु क्षण की तरह सत्य है। जैसे पंक्ति के अन्तर्गत दस भिन्न सत्ता वाले पुरुषों में एक पंक्ति नाम का वास्तविक पदार्थ नहीं है, फिर भी इस प्रकार के संकेत से पंक्ति व्यवहार हो जाता है, उसी तरह अपनी क्रमिक पर्यायों में पाया जाने वाला स्वरूपास्तित्व भी सांकेतिक नहीं है, किन्तु परमार्थसत् है। 'मृषा' से सत्य व्यवहार नहीं हो सकता। बिना एक तात्त्विक स्वरूपास्तित्व के क्रमिक पर्यायें एक धारा में असंकरभाव से नहीं चल सकतीं। पंक्ति के अन्तर्गत एक पुरुष अपनी इच्छानुसार उस पंक्ति से विच्छिन्न हो सकता है, पर कोई भी पर्याय चाहने पर भी न तो अपने द्रव्य से विच्छिन्न हो सकती है, और न द्रव्यान्तर में विलीन ही और न अपना क्रम छोड़कर आगे जा सकती है और न पीछे।

7.7.2 सन्तान का खोखलापन

बौद्ध के सन्तान की वास्तविकता और खोखलापन तब समझ में आता है जब वे निर्वाण में चित्त सन्तति का समूलोच्छेद स्वीकार कर लेते हैं अर्थात् सर्वथा अभाववादी निर्वाण में यदि चित्त की तरह बुझ जाता है, तो वह चित्त एक दीर्घकालिक धारा के रूप में ही रहने वाला स्थायी पदार्थ रहा। उसका अपना मौलिकत्व भी सार्वकालिक नहीं हुआ, किन्तु इस तरह एक स्वतंत्र पदार्थ का सर्वथा उच्छेद स्वीकार करना युक्ति और अनुभव दोनों से विरुद्ध है। यद्यपि बुद्ध ने निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में अपना मौन रखकर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस प्रश्न को अव्याकृत कोटि में रखा था, किन्तु आगे के आचार्यों ने उसकी प्रदीप-निर्वाण की तरह जो व्याख्या की है, उससे निर्वाण या उच्छेदात्मक स्वरूप ही फलित होता है।

7.7.3 उच्छेदात्मक निर्वाण अप्रातीतिक है

जब उच्छेदात्मक निर्वाण में चित्त की सन्तान भी समाप्त हो जाती है तो उस 'मृषा' सन्तान के बल पर संसार अवस्था में कर्मफल सम्बन्ध, बन्ध, मोक्ष, स्मृति और प्रत्यभिज्ञान आदि की अवस्थायें बनाना कच्ची नींव पर मकान बनाने के समान हैं। झूठी सन्तान में कर्मवासना का संस्कार मानकर उसी में कपास के बीज में लाख के संस्कार से रंगभेद की कल्पना की तरह फल की संगति बैठाना भी नहीं जम सकता। कपास के बीज के जिन परमाणुओं को लाख के रंग से सींचा था, वे ही स्वरूपसत् परमाणु पर्याय बदलकर रुई के पौधे की शकल में विकसित हुए हैं और उन्हीं में उस संस्कार का फल विलक्षण लाल रंग के रूप में आया है। यानी इस दृष्टान्त में सभी चीजें वस्तुसत् हैं, 'मृषा' नहीं, किन्तु जिस सन्तान पर बौद्ध कर्मवासनाओं का संस्कार देना चाहते हैं और जिसे उसका फल भुगतवाना चाहते हैं, उस सन्तान को पंक्ति की तरह बुद्धि कल्पित नहीं माना जा सकता और न उसका निर्वाण अवस्था में समूलोच्छेद ही स्वीकार किया जा सकता है। अतः निर्वाण का यदि कोई युक्तिसिद्ध और तात्त्विक स्वरूप बन सकता है तो वह निरास्रवचित्तोत्पादरूप ही जैसाकि तत्त्वसंग्रह की पञ्जिका (पृ.184) में उद्धृत निम्न श्लोक से फलित होता है—

"चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥"

अर्थात् रागादि क्लेश से दूषित चित्त ही संसार है और रागादि से रहित वीतराग चित्त ही भवान्त अर्थात् मुक्ति है।

जब वही चित्त संसार अवस्था से बदलता-बदलता मुक्ति अवस्था में निरास्रव हो जाता है, तब उसकी परम्परारूप सन्तति को सर्वदा अवास्तविक नहीं कहा जा सकता। इस तरह द्रव्य का प्रतिक्षण पर्यायरूप से परिवर्तन होने पर भी जो उसकी अनाद्यनन्त स्वरूप स्थिति है और जिसके कारण उसका समूलोच्छेद नहीं हो पाता। वह स्वरूपास्तित्व या ध्रौव्य है। यह काल्पनिक न होकर परमार्थ सत्त्व है। इसी को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं।

7.8 सादृश्यास्तित्व

दो विभिन्न द्रव्यों में अनुगत व्यवहार कराने वाला सादृश्यास्तित्व होता है, इसे तिर्यक् सामान्य या सादृश्य सामान्य कहते हैं। अनेक स्वतन्त्रसत्ताक द्रव्यों में 'गौः, गौः' या 'मनुष्यः, मनुष्यः' इस प्रकार के अनुगत व्यवहार के किसी नित्य, एक और अनेकानुगत गोत्व या मनुष्यत्व नाम के सामान्य की कल्पना करना उचित नहीं है, क्योंकि दो स्वतंत्र सत्ता वाले द्रव्यों में अनुस्यूत कोई एक पदार्थ हो ही नहीं सकता। वह उन दोनों द्रव्यों की संयुक्त पर्याय तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि एक पर्याय में दो अति भिन्नक्षेत्रवर्ती द्रव्य उपादान नहीं होते। फिर अनुगत व्यवहार तो संकेत ग्रहण के बाद होता है। जिस व्यक्ति ने अनेक मनुष्यों में बहुत से अवयवों की समानता देखकर सादृश्य की कल्पना की है, उसी को उस सादृश्य के संस्कार के कारण 'मनुष्यः, मनुष्यः' ऐसी अनुगत प्रतीति होती है। अतः दो विभिन्न द्रव्यों में अनुगत प्रतीति का कारणभूत सादृश्यास्तित्व मानना चाहिए, जो कि प्रत्येक द्रव्य में परिसमाप्त होता है। ऊर्ध्वता सामान्य, जो स्वरूपास्तित्व है वह पहले कह चुके हैं। इस तरह दो सामान्य हैं।

7.8.1 दो विशेष

इसी तरह एक द्रव्य की पर्यायों में कालक्रम से व्यावृत्त प्रत्यय कराने वाला पर्याय नाम का विशेष है। दो द्रव्यों में व्यावृत्त प्रत्यय कराने वाला व्यतिरेक नाम का विशेष है। तात्पर्य यह है कि एक द्रव्य की दो पर्यायों में अनुगत प्रत्यय ऊर्ध्वता सामान्य से होता है। और व्यावृत्त प्रत्यय पर्याय नाम के विशेष से जैसाकि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

परीक्षामुख में कहा गया है—परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वतामृदिव स्थासादिषु। एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत्॥ दो विभिन्न द्रव्यों में अनुवृत्त प्रत्यय तिर्यक् सामान्य (सादृश्यास्तित्व) से तथा व्यावृत्त प्रत्यय व्यतिरेक नामक विशेष से होता है। परीक्षामुख में जैसा कहा गया है—

सदृशपरिणाम स्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्।

अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्॥

7.9 सामान्यविशेषात्मक अर्थात् द्रव्य पर्यायात्मक

जगत् प्रत्येक पदार्थ इस प्रकार सामान्य विशेषात्मक है। पदार्थ का सामान्य विशेषात्मक विशेषण धर्मरूप है जो अनुगत प्रत्यय और व्यावृत्त प्रत्यय का विषय होता है। पदार्थ की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता परिणमन से सम्बन्ध रखती है। ऊपर जो सामान्य और विशेष को धर्म बताया है वह तिर्यक् सामान्य और व्यतिरेक विशेष से ही सम्बन्ध रखता है। द्रव्य के ध्रौव्यांश को ही ऊर्ध्वता सामान्य और उत्पाद-व्यय को ही पर्याय नामक विशेष कहते हैं। वर्तमान के प्रति अतीत का और भविष्य के प्रति वर्तमान का उपादान कारण होना, यह सिद्ध करता है कि तीनों क्षणों की अविच्छिन्न कार्यकारण परम्परा है। प्रत्येक पदार्थ की यह सामान्य विशेषात्मकता उसके अनन्तधर्मात्मकत्व का ही लघुस्वरूप है।

तिर्यक् सामान्य रूप सादृश्य की अभिव्यक्ति यद्यपि परसापेक्ष है, किन्तु उसका आधारभूत प्रत्येक द्रव्य जुदा-जुदा है। यह उभयनिष्ठ न होकर प्रत्येक में परिसमाप्त है। पदार्थ न तो केवल सामान्यात्मक ही है और न विशेषात्मक ही है यदि केवल ऊर्ध्वता सामान्यात्मक अर्थात् सर्वथा नित्य अविकारी पदार्थ स्वीकार किया जाता है तो वह त्रिकाल में सर्वथा एक रस, अपरिवर्तनशील और कूटस्थ बना रहेगा। ऐसे पदार्थ में कोई परिणमन न होने से जगत् के समस्त व्यवहार उच्छिन्न हो जायेंगे। कोई भी क्रिया फलवती नहीं हो सकेगी। पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्षादि व्यवस्था नष्ट हो जायेगी। अतः उस वस्तु में परिवर्तन तो अवश्य ही स्वीकार करना होगा। हम नित्य-प्रति देखते हैं कि बालक दूज के चन्द्रमा के समान बढ़ता है, सीखता है और जीवन विकास को प्राप्त कर रहा है। जड़ जगत् के विचित्र परिवर्तन तो हमारी आंखों के सामने हैं। यदि पदार्थ सर्वथा नित्य हों तो उनमें क्रम या युगपत् किसी भी रूप से कोई अर्थक्रिया नहीं हो सकेगी और अर्थक्रिया के अभाव में उनकी सत्ता ही संदिग्ध हो जाती है।

इसी तरह यदि पदार्थ को पर्याय नामक विशेष के रूप में ही स्वीकार किया जाये अर्थात् सर्वथा क्षणिक माना जाये, यानी पूर्वक्षण का उत्तरक्षण के साथ कोई सम्बन्ध स्वीकार न किया जाये तो लेन-देन, गुरु-शिष्यादि व्यवहार तथा बन्ध-मोक्षादि व्यवस्थायें समाप्त हो जायेंगी। न कारण कार्य भाव होगा और न अर्थक्रिया ही। अतः पदार्थ को ऊर्ध्वता सामान्य और पर्याय नामक विशेष के रूप में सामान्य विशेषात्मक या द्रव्य-पर्यायात्मक ही स्वीकार करना चाहिए।

आचार्य सिद्धसेन ने सन्मति प्रकरण में लिखा है—

सामण्णम्मि विसेसो विसेसपक्खे य वयणविणिवेसो।
दव्वपरिणाममण्णं दाएइ तयं च णियमेइ ॥
एगंतणिव्विसेसं एयंतविसेसियं च वयमाणो।
दव्वस्स पज्जवे पज्जवा हि दवियं णियत्तेइ॥

अर्थात् सामान्य में विशेष-विषयक वचन का और विशेष में सामान्य विषयक वचन का जो प्रयोग होता है वह अनुक्रम से सामान्य अर्थात् द्रव्य के परिणाम को उससे भिन्न रूप में दिखलाता है; और विशेष को सामान्य में नियत करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एकान्त निर्विशेष ऐसे सामान्य का और एकान्त विशेष का प्रतिपादन करने वाला द्रव्य के पर्यायों को उससे अलग करता है और पर्यायों को द्रव्य से अलग करता है।

प्रत्येक व्यवहार ज्ञानमूलक होता है। व्यवहार की अबाधितता ही ज्ञान की यथार्थता का प्रमाण है। वस्तु का स्वरूप कैसा है यह निश्चित करने का एकमात्र साधन यथार्थ ज्ञान है।

सत्, द्रव्य आदि कोई भी पर या अपर सामान्य व्यवहार में तो विशेष रूप में ही आता है, जैसे पृथ्वी, घट आदि कोई भी विशेष सामान्य रूप से व्यवहृत होता है; और यह व्यवहार बाधित भी नहीं है अतएव हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि सामान्य के अलावा उसका परिणाम विशेष भी है और वह विशेष सामान्य-स्वरूप से भिन्न नहीं है अर्थात् सामान्य विशेषों में ओतप्रोत है और विशेष अभिन्न सामान्य की भूमिका पर ही रहते हैं। इससे वस्तुमात्र परस्पर अविभाज्य ऐसे सामान्य विशेष उभयरूप सिद्ध होती है।

यदि विशेष रहित केवल सामान्य ही हो, तो मात्र सामान्य-विषयक प्रतीति के आधार पर व्यवहार करने वाले को विशेष छोड़ ही देने पड़ेंगे। फलतः उसे प्रतीति और व्यवहार सिद्ध कड़ा, कुण्डल आदि अनेक आकारों को विचार एवं वाणी में से दूर हटाकर 'मात्र सोना है' इतना ही सामान्य व्यवहार करना पड़ेगा। इसी भांति सामान्य रहित केवल विशेष मानने वाले को विचार एवं वाणी से स्वर्णरूप सामान्य तत्त्व को हटाकर मात्र कड़ा, कुण्डल आदि आकार ही विचारप्रदेश में लाने पड़ेंगे और उन्हीं को वाणी द्वारा अभिव्यक्त करना होगा परन्तु अनुभव तो ऐसा है कि कोई भी विचार या वाणी मात्र सामान्य या मात्र विशेष का अवलम्बन लेकर प्रवृत्त नहीं होती।

7.10 सारांश– इससे यही सिद्ध होता है कि सामान्य एवं विशेष भिन्न होकर भी परस्पर अभिन्न हैं।

7.11 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैनदर्शन के अनुसार वस्तु की सामान्य-विशेषात्मकता का वर्णन करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. वेदान्तदर्शन के अनुसार सत् के स्वरूप को निरूपित करें।
2. बौद्धदर्शन के अनुसार विशेष का स्वरूप बताते हुए जैनदृष्टि से समीक्षा करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सत्य के विभिन्न रूपों के आधार क्या हैं?
2. सांख्य में किस तत्त्व पर विशेष बल दिया गया है
3. बौद्धदर्शन में सत्य के कितने प्रकार हैं?
4. न्याय-वैशेषिक दर्शन में सामान्य का स्वरूप क्या हैं?
5. जैनदृष्टि से अस्तित्व के कितने भेद हैं?
6. प्रमाण और नय का विषय क्या है?
7. जैनदर्शन के स्वरूपास्तित्व की तुलना बौद्धदर्शन में किससे की गई है?
8. बौद्धदर्शन में संसार एवं मुक्ति क्या है?
9. तिर्यक् सामान्य किसे कहते हैं?
10. ज्ञान की यथार्थता का क्या प्रमाण है?

संदर्भ ग्रन्थ–

1. जैनदर्शन—पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, प्रका. गणेशवर्णी शोध संस्थान, वाराणसी
2. जैनदर्शन और अनेकान्त—आचार्यश्री महाप्रज्ञ, प्रका. आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन
3. आप्त-मीमांसा (तत्त्वदीपिका)—प्रो. उदयचन्द जैन, प्रका. गणेशवर्णी शोध संस्थान, वाराणसी
4. सन्मति प्रकरण—संपा. पं. सुखलाल संघवी, प्रका. ज्ञानोदय प्रकाशन, अहमदाबाद

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–8 : उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मकता

संरचना

8.0 प्रस्तावना
8.1 उद्देश्य
8.2 उत्पाद आदि की स्वरूप विवेचना
8.3 उत्पाद आदि स्वनिमित्तक और परनिमित्तक
8.4 सिद्धसेन की नयपुरस्सर अवधारणा
8.5 उत्पाद व्यय और ध्रौव्य में अबिनाभाव
8.6 उत्पाद आदि के तार्किक विवेचन का प्रयोजन
8.7 उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का भेदाभेदवाद
8.8 सारांश
8.9 अभ्यास प्रश्नावली

8.0 प्रस्तावना

जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। अनेकान्तवाद प्रत्येक वस्तु में अनन्त विरोधी धर्मों का एक साथ अस्तित्व मानता है। वह वस्तु को परिणमनशील मानता है। परिणमनशीलता के मुख्यतया तीन अंग हैं—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीनों की समन्वित अवस्था सत् कहलाती है। भगवान् महावीर सत्य के साक्षात् द्रष्टा थे। अतः यथार्थ का प्रतिपादन करते थे। उनसे पूछा गया—भन्ते! तत्त्व क्या है? महावीर ने कहा—वस्तु उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और ध्रुव भी रहती है। तात्पर्य की भाषा में कहा जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु में जब किसी नई पर्याय का उत्पाद होता है, उसी समय पूर्व पर्याय का नाश भी होता है। उत्पाद और नाश के बावजूद वस्तु का मूल स्वरूप सुरक्षित रहता है। **'ठाणं'** सूत्र में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप त्रिपदी के लिए मातृकानुयोग पद का प्रयोग मिलता है। जिस प्रकार समस्त शास्त्रों की रचना का आधार मातृशपद अर्थात् अकार आदि वर्णाक्षर है,उसी प्रकार समस्त तत्त्वमीमांसा का आधार यह त्रिपदी है।

8.1 उद्देश्य

उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मकता किसी वस्तु व तत्त्व में समय के साथ परिवर्तन चलता ही रहता है। ध्रौव्यात्मकता पर जैनाचार्यों ने विशिष्ट चिंतन किया है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को जैनदर्शन में त्रिपदी कहा गया है। इस महत्त्वपूर्ण पाठ के सम्बन्ध में हम निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन करेंगे।

8.2 उत्पाद आदि की स्वरूप विवेचना

वस्तु उत्पन्न होती है और नष्ट भी होती है। यहां उत्पाद और नाश पर्याय परिवर्तन के सूचक हैं। वस्तु का मूल स्वरूप ध्रुव है—अटल है। यह अपरिवर्तन और स्थिरता का सूचक है। भगवतीसूत्र में बताया गया है—**'अथिरे पलोट्टइ थिरे नो पलोट्टइ।'** वस्तु के अस्थिर अंश का परिवर्तन होता है, स्थिर अंश भी परिवर्तित नहीं होता। यहां ज्ञातव्य है कि जड़ अथवा चेतन किसी भी द्रव्य का सर्वथा उत्पाद या सर्वथा विनाश नहीं होता। तालाब का पानी तीव्र गर्मी में सूख जाता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि तालाब का पानी सर्वथा नष्ट हो गया। इसका तात्पर्य है—पानी के रूप में परिणत पुद्गल गर्मी के कारण वाष्प के रूप

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

में परिवर्तित हो गए। इसे दूसरे शब्दों में पानी का नाश और वाष्प का उत्पाद भी कहा जा सकता है। वस्तुतः हम जिसे वस्तु का उत्पाद और नाश कहते हैं, वह वस्तु का रूपान्तर में परिणमन मात्र है। उदाहरण के लिए कोयला जलकर राख हो जाता है। पर उस समय भी कोयला सर्वथा नष्ट नहीं होता, वह वायुमण्डल में ऑक्सीजन अंश के साथ मिलकर कार्बोनिक एसिड गैस के रूप में बदल जाता है। वस्तु में निरन्तर उत्पाद और विनाश के बावजूद स्थायी अंश यथावत् रहता है। इसे हम ध्रौव्य कहते हैं। ध्रौव्य परिवर्तन में अपरिवर्तन का और असदृशता में सदृशता का प्रतीक है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की समन्वित अवस्था द्रव्य कहलाता है। द्रव्य वही कहलाता है जो सत् हो। बौद्ध दार्शनिक 'सत्' को एकान्त अनित्य तथा वेदान्ती दार्शनिक सत् को एकान्त नित्य मानते हैं। जैन दर्शन सत् को नित्यानित्य उभयात्मक मानता है। उत्पाद और व्यय वस्तु के अनित्य पक्ष का और ध्रौव्य नित्य पक्ष का प्रतीक है। **वाचक उमास्वाति** ने भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों की समन्वित अवस्था को द्रव्य कहा है। **कुन्दकुन्द** ने भी द्रव्य की परिभाषा में इन तीनों का समावेश किया है। पूज्यपाद ने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को परिभाषित करते हुए बताया है—

चेतन और अचेतन दोनों ही द्रव्य अपनी जाति को कभी नहीं छोड़ते फिर भी अन्तरंग और बहिरंग निमित्तों के कारण प्रतिसमय जो नवीन अवस्था की प्राप्ति होती है उसे उत्पाद कहा जाता है। जैसे—मृत्पिण्ड की घट पर्याय में परिणति घट का उत्पाद है। पूर्व अवस्था के विगम को व्यय कहा जाता है। जैसे—घट की उत्पत्ति होने पर मिट्टी के पिण्ड रूप आकार का नाश हो जाता है, वह पिण्डाकृति का व्यय है। ध्रौव्य का अर्थ है—अनादिकालीन पारिणामिक भाव। जीव का जीवत्त्व और अजीव का अजीवत्त्व ध्रुव है। उनका न उत्पाद होता है और न विनाश। इसी तरह दो भिन्न अवस्थाओं में अन्वित रहने वाला तत्त्व भी ध्रुव रहता है जैसे—मिट्टी के पिण्ड और घट आदि अवस्थाओं में मिट्टी का अन्वय रहता है। वह दोनों अवस्थाओं में मौजूद रहती है।

8.3 उत्पाद आदि स्वनिमित्तक और परनिमित्तक

उत्पाद आदि स्वनिमित्तक भी माना गया है और परनिमित्तक भी। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और मुक्त जीवों में होने वाला अर्थपर्याय रूप परिणमन स्वनिमित्तक होता है। स्थूल पदार्थों में होने वाला परिणमन परनिमित्तक होता है। इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि जैनदर्शन के अनुसार जड़, चेतन, स्थूल, सूक्ष्म सभी पदार्थों में परिणमन की अनिवार्यता है। फलतः सभी पदार्थों पर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की समन्विति का नियम स्वतः लागू हो जाता है।

8.4 सिद्धसेन की नयपुरस्सर अवधारणा

सिद्धसेन दिवाकर ने उमास्वाति और कुन्दकुन्द की तरह द्रव्य के स्वरूप को तो उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक ही स्वीकृत किया है पर उसकी नयदृष्टि से जो व्याख्या की है वह अपने आप में अपूर्व है, मौलिक है। उन्होंने लिखा है—

उप्पज्जंति वियंति य भावा णियमेण पज्जवणयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पन्नमविणट्ठं।।
दव्वं पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि।
उप्पायट्ठिइ-भंगा हंदि दवियलक्खणं एयं।।

पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से सभी पदार्थ नियम से उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। द्रव्यास्तिक नय द्रव्य (ध्रौव्य) को विषय बनाता है, अतः इस नय की दृष्टि में सभी पदार्थ उत्पत्ति और विनाश रहित ही हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उत्पाद और नाश रूप पर्यायों से रहित द्रव्य नहीं होता और द्रव्य अर्थात् ध्रुवांश से रहित कोई पर्याय नहीं होता। अतः उत्पाद, नाश और स्थिति—ये तीनों मिलकर ही द्रव्य (सत्) का परिपूर्ण लक्षण बनते हैं।

आचार्य समन्तभद्र ने सिद्धसेन की भांति उत्पाद और विनाश का आधार विशेष धर्मों अथवा पर्यायों को ही माना है। उन्होंने वस्तु की त्रयात्मकता को दो उदाहरणों से स्पष्ट किया है—

एक मनुष्य स्वर्ण का घट चाहता है। दूसरा स्वर्ण का मुकुट चाहता है। तीसरा मात्र स्वर्ण का अभीप्सु है। स्वर्णकार घट को तोड़कर मुकुट बनाता है। इससे पहला खिन्न होता है और दूसरा प्रसन्न। स्वर्ण का अर्थी दोनों ही अवस्थाओं में मध्यस्थ रहता है। यहां शोक, हर्ष और मध्यस्थता का कारण क्रमशः नाश, उत्पाद और ध्रौव्य है। अतः वस्तु त्रयात्मक है।

दूसरा दृष्टान्त इस प्रकार है—जिसे दूध का व्रत है अर्थात् जिसने यह व्रत कर लिया कि आज मुझे केवल दूध पीना है वह दधि नहीं खाता। जिसे दधि का व्रत है वह दूध नहीं पीता, पर जिसने यह व्रत कर लिया कि मैं आज गोरस का सेवन नहीं करूंगा, वह न दूध पीता है और न ही दधि खाता है, इससे सिद्ध होता है कि दुग्ध पर्याय का नाश होने पर दधि की उत्पत्ति होती है पर गोरस दोनों ही अवस्थाओं में विद्यमान रहता है अतः उसे ध्रुव माना जा सकता है। निष्कर्षतः प्रत्येक वस्तु त्रयात्मक है।

यहां हम वस्तुगत त्रयात्मकता की मीमांसा व योगदर्शन से तुलना कर सकते हैं। दोनों ही दर्शनों में स्वर्ण के उदाहरण से वस्तु की त्रयात्मकता अथवा परिणमनशीलता का निर्देश किया गया है।

चूर्णिकार जिनदासगणि ने जीव और अजीव पर त्रिपदी को घटित करते हुए बताया है कि ये तीनों ही पर्याय जीव और अजीव दोनों ही द्रव्यों में घटित होते हैं। एक देव मनुष्य जन्म लेता है तो उसके देव रूप का विनाश और मनुष्य रूप का उत्पाद होता है तथा उसका जीवत्व अवस्थित रहता है। इसी प्रकार एक परमाणु का व्यय होने पर द्विप्रदेशी स्कन्ध आदि का उत्पाद होता है पर उसका पुद्गलत्व यथावत् रहता है।

अनन्तधर्मात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय बनती है। वस्तु की इस अनन्तधर्मात्मकता का आधार भी यह त्रिपदी है।

8.5 उत्पाद व्यय और ध्रौव्य में अविनाभाव

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—ये तीनों परस्पर अनुविद्ध हैं। इनमें से किसी एक के अभाव से शेष दो के प्रभाव को भी रोका नहीं जा सकता। उपाध्याय यशोविजय जी ने उत्पाद आदि में परस्पर अविरोध सिद्ध करते हुए लिखा है "उत्पाद आदि में परस्पर अविनाभाव है। जहां अविनाभाव हो वहां विरोध की संभावना प्रायः समाप्त हो जाती है। जिस प्रकार आम्रत्व और वृक्षत्व अविनाभूत होकर रहते हैं, उसी प्रकार उत्पाद आदि भी अविनाभूत होकर सहस्थित रहते हैं।"

8.6 उत्पाद आदि के तार्किक विवेचन का प्रयोजन

यहां जानने योग्य बात यह है कि जैन परम्परा में उत्पादव्ययध्रौव्य का मूल स्वरूप आगम साहित्य में उपलब्ध है। वहां इनका तार्किक और खण्डनमण्डनपुरस्सर विवेचन नहीं है। यह उत्तरकालीन विकास है और इसके पीछे कारण भी है। वह है—नागार्जुन जैसे बौद्ध विद्वानों की विरुद्ध विचार परम्परा। नागार्जुन के 'माध्यमिक कारिका' ग्रन्थ में 'संस्कृत परीक्षा' नामक प्रकरण आता है। उस प्रकरण में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप वस्तु के लक्षण का खण्डन किया गया है। नागार्जुन के उत्तरवर्ती बौद्ध ग्रन्थों में भी उत्पाद आदि का निरास देखा जाता है। इस विरुद्ध परम्परा को सम्मुख रखकर ही जैन आचार्यों ने अनेकान्त के आधारभूत—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीनों का यौक्तिक विवेचन किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

8.7 उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का भेदाभेदवाद

विश्व का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है। किसी भी सत् पदार्थ का सर्वथा नाश नहीं होता और न ही अत्यन्त असत् पदार्थ का उत्पाद होता है इतना ही नहीं सभी पदार्थ त्रिकालनित्य है, उनमें से एक भी अणु न बढ़ता है और न घटता है। अनादिकाल से जितने मूल पदार्थ हैं, अनन्त काल व्यतीत होने पर भी उतने ही रहेंगे। प्रत्येक सत् पदार्थ अपने आप में परिपूर्ण होने पर भी प्रतिक्षण परिणमन करता रहता है। वस्तु का मूल स्वरूप ध्रुव रहने पर भी उत्पाद और व्यय की धारा कभी विच्छिन्न नहीं होती।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का परस्पर सम्बन्ध क्या है? ये तीनों एक साथ होते हैं या क्रम से? तीनों का काल भिन्न है या अभिन्न?

उमास्वाति ने **'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'** कहकर जैन परम्परा में सर्वप्रथम सत् की अवधारणा प्रस्तुत की, पर तीनों के परस्पर सम्बन्ध की उन्होंने कोई चर्चा नहीं की। कुन्दकुन्द ने अविनाभाव के आधार पर तीनों की सम्बन्ध-स्थापना की है। उनके अनुसार जब तक किसी नई पर्याय की उत्पत्ति नहीं होती, पूर्व पर्याय का नाश भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार किसी एक पर्याय का नाश हुए बिना इतर पर्याय का उत्पाद नहीं हो सकता अतः ये परस्पर अविनाभावी हैं। इसी तरह ध्रुव तत्त्व की नियामकता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—उत्पाद और व्यय तभी घटित हो सकते हैं जब कोई ध्रुव तत्त्व स्वीकार किया जाए।

सिद्धसेन दिवाकर ने उत्पाद आदि की सम्बन्ध-योजना नयदृष्टि से की है। उनके अनुसार—

तिण्णि वि उप्पायाई अभिन्नकाला य भिन्नकाला य।
अत्थंतरं अणत्थंतरं च दवियाहि णायव्वा।।
जो आउंचणकालो सो चेव पसारियस्स वि ण जुत्तो।
तेसिं पुण पडिवत्ती-विगमे कालंतरं णत्थि।।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीनों का काल भिन्न भी है और अभिन्न भी है। यदि हम क्रमवर्ती दो पर्यायों की दृष्टि से विचार करें तो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य को समकालीन माना जा सकता है। जिस समय पूर्व पर्याय का विगम (नाश) होता है। उत्पाद और विनाश के समय वस्तु सामान्य धर्म की अपेक्षा स्थिर रहती है। अतः तीनों अभिन्नकालिक हैं।

यदि हम एक ही पदार्थ की दृष्टि से विचार करें तो उत्पाद आदि को भिन्नकालिक मानना होगा। क्रमवर्ती पर्यायों में जहां पूर्वपर्याय का अंतिम क्षण ही उत्तरपर्याय का आदिक्षण होता है वहां एक ही पर्याय का अंतिमक्षण और आदिक्षण भिन्न-भिन्न होता है। मृत्तिका के नाश और घट के उत्पाद का एक ही समय हो सकता है। पर घट के नाश और घट के ही उत्पाद का समय एक नहीं हो सकता। एक ही पर्याय के उत्पाद और नाश की तरह स्थिति का काल भी भिन्न ही होगा क्योंकि वस्तु के उत्पाद का समय यानी उसका प्रारम्भिक समय।विनाश का समय अर्थात् उसका अंतिम समय।वस्तु की स्थिति का समय अर्थात् प्रारम्भ से लेकर अंत तक का सारा समय।इस प्रकार एक पर्याय की अपेक्षा उत्पाद आदि तीनों भिन्नकालिक हैं। सिद्धसेन दिवाकर ने इस संदर्भ में उंगली का दृष्टान्त दिया है। उंगली के आकुंचन और प्रसरण (सिकुड़ना और फैलना) का समय एक नहीं हो सकता। आकुंचन और प्रसरण दोनों क्रमवर्ती पर्यायें हैं तथा दोनों परस्पर विरोधी भी हैं। दो क्रमवर्ती पर्यायों में उत्पाद और व्यय का कालभेद नहीं होता। इसलिए जो समय उंगली की आकुंचन अवस्था के उत्पाद का है वही प्रसरण अवस्था के व्यय का है। दोनों ही अवस्थाओं में उंगली स्थिर है। इस प्रकार एक ही उंगली में उत्पाद आदि की समकालीनता सिद्ध होती है। यहां यदि हम उंगली के आकुंचन अथवा प्रसरण—दोनों में से किसी एक ही पर्याय की दृष्टि से विचार करें तो उसके उत्पाद, नाश

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और स्थैर्य—तीनों का काल भिन्न सिद्ध होगा। उंगली में जिस समय आकुंचन धर्म का उत्पाद होता है उसी समय आकुंचन धर्म का नाश भी हो—यह असंभव है। परिणामतः तीनों क्रियाएं भिन्न-भिन्न समय में निष्पन्न होती हैं। अतः तीनों मिश्रकालिक हैं।

सिद्धसेन दिवाकर ने उत्पाद आदि को काल की तरह धर्म और धर्मी के सम्बन्ध के आधार पर भी भिन्नाभिन्न दोनों सिद्ध किया है। द्रव्य को धर्मी भी कहा जाता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—ये तीनों द्रव्य के धर्म या लक्षण हैं। धर्म अथवा लक्षण अपने लक्ष्यभूत धर्मी से भिन्न होते हैं। यदि धर्म और धर्मी को सर्वथा अभिन्न माना जाए तो वे दो नहीं रह सकते। दोनों में से कोई एक ही रहेगा, दोनों नहीं। इसी तरह धर्म और धर्मी दोनों सर्वथा भिन्न नहीं होते। धर्म सदैव धर्मी में रहते हैं। धर्मी से पृथक् धर्मों के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अतः दोनों अभिन्न भी हैं। निष्कर्षतः दोनों भिन्नाभिन्न हैं।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप द्रव्य त्रैकालिक होता है। सिद्धसेन ने उत्पाद आदि के भेदाभेद की चर्चा के परिप्रेक्ष्य में इनकी त्रैकालिक सत्ता को दृष्टान्त से समझाया है—

एक मकान समग्र मकान के रूप में उत्पद्यमान है अर्थात् बन रहा है। जितना भाग बन चुका है वह उत्पन्न है तथा इसी तरह जो निर्माण कार्य अवशेष है उसकी अपेक्षा वह उत्पत्स्यमान है। त्रैकालिक उत्पाद की तरह त्रैकालिक विनाश भी स्वतः सिद्ध है। मकान के निर्माण में ईंट, प्रस्तर आदि अवयव अपनी पृथक् सत्ता का परित्याग करते हैं। इस दृष्टि से वे अवयव के रूप में विगच्छत् हैं। मकान का जो भाग निर्मित हो चुका तथा उसमें ईंट आदि अवयव अपनी पृथक् सत्ता का परित्याग कर चुके, इसलिए वे उस भाग में विगत (नष्ट) हैं। जो भाग अभी बनना शेष है उसमें इन ईंट आदि अवयवों का पृथकत्व नष्ट होने वाला है, इसलिए वे उस भाग में विगमिष्यत् हैं। इसी तरह मकान की त्रैकालिक स्थिति को भी सिद्ध किया जा सकता है। सिद्धसेन ने उत्पाद आदि के भेदाभेद की सिद्धि का जो प्रयास किया, वह उनकी अनेकान्तदृष्टि का ही प्रतिफल है। उनके द्वारा अनेकान्त का जो स्वर मुखर हुआ, उसका प्रभाव उत्तरकालीन साहित्य में स्पष्ट देखा जा सकता है। समन्तभद्र का एक विशिष्ट ग्रन्थ है—आप्तमीमांसा। सिद्धसेन ने सन्मतिप्रकरण ग्रन्थ में अनेकान्तप्रधान दृष्टिकोण का जिस तरह प्रतिपादन किया है, आप्तमीमांसा में भी कमोबेश रूप में वही दृष्टिकोण मुखर हुआ है। समन्तभद्र ने सामान्य धर्म की अपेक्षा वस्तु को उत्पाद और विनाश से रहित मात्र स्थिर तथा विशेष धर्मों की अपेक्षा उत्पाद और विनाश से युक्त बतलाया है। समन्तभद्र ने भी उत्पाद आदि को परस्पर भिन्न और अभिन्न उभयात्मक सिद्ध किया है। उन्होंने लिखा है—

कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात् पृथक्।
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत्।।

कार्य का उत्पाद और विनाश सहेतुक होता है। उत्पाद और विनाश में हेतु की नियामकता है। जो कार्य के उत्पाद का हेतु बनता है वही उपादान के विनाश का हेतु बनता है। मृत्तिका के नाश का हेतु ही घट के उत्पाद का हेतु बनता है अथवा घट के विनाश का हेतु ही कपाल की उत्पत्ति का हेतु बन जाता है। हेतु का एकत्त्व होने से उत्पाद और विनाश दोनों कथंचिद् अभिन्न हैं।

यहां विशेष बात यह है कि नैयायिक और वैशेषिक उत्पाद और व्यय के हेतु को भिन्न मानते हैं। जैनों को हेतु का यह भेद मान्य नहीं है।

उत्पाद और विनाश में कथंचिद् ऐक्य ही नहीं अपितु भेद भी है। स्वरूप या लक्षण की दृष्टि से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों भिन्न हैं क्योंकि तीनों के लक्षण भिन्न हैं। जिस प्रकार किसी फल में रूप, रस, गंध आदि की प्रतीति भिन्न होती है उसी प्रकार उत्पाद आदि की प्रतीति भी भिन्न रूप में होती है। अतः

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दोनों भिन्न भी हैं। निष्कर्ष यही है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों सापेक्ष हैं। तीनों परस्पर कथंचिद् भिन्न और कथंचिद् अभिन्न उभयात्मक हैं।

8.8 उपसंहार

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जैनदर्शन के अनुसार द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों ही सत् हैं और तीनों ही त्रिलक्षणात्मक हैं अर्थात् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। प्रत्येक द्रव्य में दो शक्तियां निरन्तर कार्यशील रहती हैं। उत्पाद शक्ति पर्याय विशेष को उत्पन्न करती है तो विनाश शक्ति पूर्वोत्पन्न पर्याय विशेष को नष्ट करती है। प्रतिक्षण उत्पाद और विनाश के बावजूद द्रव्य का द्रव्यत्व समाप्त नहीं होता। वह दोनों ही अवस्थाओं में अनुस्यूत रहता है। संक्षेप में यही वस्तु का स्वरूप है।

जैनों द्वारा स्वीकृत वस्तु का स्वरूप अन्य दर्शनों से विलक्षण है। बौद्ध दार्शनिक वस्तु का स्वरूप अन्य दर्शनों से विलक्षण है। बौद्ध दार्शनिक वस्तु को क्षणक्षयी मानते हैं अतः उनके अनुसार उत्पाद और नाश ही यथार्थ है। वेदान्ती दार्शनिक पर्याय रहित द्रव्य को यथार्थ मानते हैं। सांख्यदर्शन में प्रकृति को परिणामीनित्य अर्थात् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक स्वीकृत करके भी पुरुष को कूटस्थ नित्य और एकमात्र ध्रुव माना गया है। वैशेषिक कुछ परमाणु, आकाश, आत्मा आदि पदार्थों को एकान्त नित्य (ध्रौव्यात्मक) मानते हैं तो घट, पट आदि पदार्थों को एकान्त अनित्य (उत्पादव्ययात्मक)।

जैन दर्शन न एकान्तनित्यता को मानता है और न एकान्त अनित्यता को। इसी तरह कुछ अंशों में एकान्त नित्यता और एकान्त अनित्यता भी उसे मान्य नहीं है। जैन मतानुसार जड़-चेतन, सूक्ष्म-स्थूल, मूर्त्त-अमूर्त्त सभी पदार्थ कथंचिद् नित्य और कथंचिद् अनित्य हैं। अतः सभी पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है यह अवधारणा ही सर्वथा निर्दोष व युक्तियुक्त प्रतीत होती है।

8.9 अभ्यास प्रश्नावली

1. निबंधात्मक प्रश्न

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर एक सारगर्भित निबन्ध लिखें।

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. सिद्धसेन की नय पुरस्सर अवधारणा का विवेचन करें।
2. उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के भेदाभेदवाद पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मातृकानुयोग पद का उल्लेख कहां मिलता है?
2. ध्रौव्य का अर्थ क्या है?
3. .... ने सिद्धसेन की भांति उत्पाद और विनाश का आधार विशेष धर्मों अथवा पर्यायों को ही माना है।
4. नागार्जुन के उत्तरवर्ती .... में भी उत्पाद आदि का निरास देखा जाता है।
5. .... न एकान्त नित्यता को मानता है और न एकान्त अनित्यता को।
6. विश्व का प्रत्येक पदार्थ .... है।
7. वस्तु की स्थिति का .... अर्थात् प्रारम्भ से लेकर अन्त तक का सारा समय।
8. एक मकान समग्र .... के रूप में उत्पद्यमान है अर्थात् बन रहा है।
9. द्रव्य को ...... कहा जाता है।
10. निष्कर्ष यही है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों .... हैं।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. ठाणं सूत्र 2. अनादिकालीन पारिणामिक भाव 3. आचार्य समन्तभद्र 4. बौद्ध ग्रन्थों 5. जैनदर्शन
6. परिणमनशील 7. समय 8. मकान 9. धर्मी 10. सापेक्ष।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–3 : सप्तभंगीनय

इकाई–9 : अनेकान्त की व्यापकता

संरचना

9.0 प्रस्तावना
9.1 उद्देश्य
9.2 वस्तु की एकान्तता और अनेकान्तता का विवेचन
9.3 तत्त्वमीमांसा में एकान्तता और अनेकान्तता सम्भव दृष्टिकोण
9.4 सारांश
9.5 अभ्यास प्रश्नावली

9.0 प्रस्तावना

भारतीयय संस्कृति अध्यात्म प्रधान संस्कृति है। इसका एक सुदृढ़ आधार स्तम्भ है—अनेकान्त। अनेकान्त हमारे विचारों की शुद्धि करता है। 'मैं सोचता हूं, वही सत्य है'—यह आग्रह व्यक्ति को सफलता से वंचित कर देता है। सफल वही होता है जो हर विचार में छिपी अच्छाई को ग्रहण करता है। अपने चिन्तन को ही सर्वेसर्वा न मानकर अन्य विचारों का भी सम्मान करता है। हम आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार करें या आचारमीमांसीय दृष्टि से, राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में देखें या सामाजिक संदर्भों में, अनेकान्त की उपादेयता सर्वत्र परिलक्षित होती है।

अध्यात्म का प्रथम सोपान है—सम्यग्दर्शन। आचार्य सिद्धसेन ने सन्मति प्रकरण में अनेकान्त के लिए अनेक बार 'सम्यग्दर्शन' शब्द का प्रयोग किया है। द्रव्यार्थिक नय द्रव्य को ग्रहण करता है और पर्यायार्थिक नय पर्याय का ग्रहण करता है। ये दोनों दृष्टियां अलग-अलग रहकर कभी भी वस्तु का यथार्थ विश्लेषण नहीं कर सकतीं। दोनों की परस्पर सापेक्षता ही सम्यग्दर्शन है और वही अनेकान्त है। जब तक दृष्टिकोण एकांगी और आग्रहपूर्ण रहता है तब तक वह मिथ्या ही रहता है। दृष्टिकोण सम्यक् तभी बनता है जब उसमें अनेकान्त का समावेश हो।

अनेकान्त एक व्यापक विचार पद्धति है। वह जिस प्रकार अन्य पदार्थों पर लागू होती है उसी प्रकार स्वयं पर भी लागू होती है। सिद्धसेन दिवाकर ने अनेकान्त को अनेकान्तात्मक सिद्ध करते हुए लिखा है—

भयणा वि हु भइयव्वा जह भयणा भयइ सव्वदव्वाइं।
एवं भयणा णियमो वि होइ समयाविरोहेण॥

अनेकान्त जिस तरह समस्त द्रव्यों को अनेकान्तात्मक सिद्ध करता है उसी प्रकार वह स्वयं भी अनेकान्तात्मक है। अनेकान्त और एकान्त में परस्पर विरोध नहीं है। नय और प्रमाण की अपेक्षा वह क्रमशः एकान्त और अनेकान्त उभयरूप है। उदाहरण के लिए 'रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् शाश्वत है और स्यात् अशाश्वत है'—यह वाक्य अनेकान्त का प्रतिपादक है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वह शाश्वत ही है तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अशाश्वत ही है—यह वाक्य एकान्त का प्रतिपादक है। उपर्युक्त दोनों वाक्य सापेक्ष होने से परस्पर अविरुद्ध है। अतः अनेकान्त अनेकान्तरूप ही होता है। अनेकान्त की व्यापकता का एक आधारभूत पद है—'स्यात्'। 'स्यात्' पद का प्रयोग प्रमाण और नय दोनों के साथ होता है। प्रकारान्तर से कहें तो स्यात् पद अनेकान्त और एकान्त दोनों दृष्टियों के साथ प्रयुक्त होता है। जब अनेकान्तात्मक पदार्थ प्रमाण के द्वारा समग्रता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

से गृहीत होता है, वह अनेकान्त रूप होता है और वही जब नय विशेष का विषय बनता है, एकान्त रूप हो जाता है।

आचार्य अकलंक ने एकान्त और अनेकान्त के दो-दो भेद निर्दिष्ट किए हैं। उन्होंने लिखा है—अनेकान्त में प्रमाण और नय के अपेक्षाभेद से अनेकान्त और एकान्त—उभयमुखी कल्पना की जा सकती है। अनेकान्त के दो भेद हैं 1. सम्यग् अनेकान्त और 2. मिथ्या अनेकान्त। इसी तरह एकान्त के भी दो भेद हैं—1. सम्यग् एकान्त और 2. मिथ्या एकान्त। एक ही वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध अनेक सप्रतिपक्ष धर्मों से युक्त ग्रहण करना सम्यग् अनेकान्तवाद है। वस्तु को तत् और अतत् आदि स्वभाव से शून्य परस्पर निरपेक्ष अनेक धर्मों से युक्त ग्रहण करना मिथ्या अनेकान्त है। इसी तरह प्रमाण द्वारा गृहीत वस्तु के अन्य धर्मों से सापेक्ष रहकर किसी एक धर्म का ग्रहण करना सम्यग् एकान्त है। वस्तुगत अन्य धर्मों से निरपेक्ष रहकर किसी एक धर्म का अवधारण करना मिथ्या एकान्त है।

9.1 उद्देश्य

अनेकान्त जैनदर्शन का एक दार्शनिक सिद्धान्त है। इससे वस्तु के वास्तविक स्वरूप को पहचानने व समझने में भ्रांति नहीं होती है। इसीलिए यह एक व्यापक सिद्धान्त है और प्रस्तुत पाठ में इसकी व्यापकता का निम्न बिन्दुओं के आधार पर हम विशद अध्ययन करेंगे।

9.2 वस्तु की एकान्तता और अनेकान्तता का विवेचन

अनेकान्त अनेकान्तरूप है। वह एकान्त और अनेकान्त दोनों का समन्वय है। इसे युक्ति से समझाते हुए बताया गया है—यदि अनेकान्त को अनेकान्तरूप ही माना जाए तथा एकान्त का सर्वथा लोप मान लिया जाए तो सम्यग् एकान्त के अभाव में एकान्त समूह अनेकान्त का अभाव उसी प्रकार हो जाएगा, जिस प्रकार शाखाओं के अभाव में वृक्ष का। यदि अनेकान्त को एकान्त रूप ही माना जाए तो उसके अविनाभावी धर्मों का लोप होने पर शेष सभी धर्मों का लोप होने से सर्वलोप का प्रसंग आ जाएगा। अतः अनेकान्त में अनेकान्त और एकान्त दोनों ही युक्तिसंगत है। अकलंक ने एकान्त और अनेकान्त के संदर्भ में सात भंगों की योजना की है। वह इस प्रकार है—

1. कथंचिद् एकान्त है।
2. कथंचिद् अनेकान्त है।
3. कथंचिद् एकान्त और कथंचिद् अनेकान्त है।
4. कथंचिद् अवक्तव्य है।
5. कथंचिद् एकान्त है और कथंचिद् अवक्तव्य है।
6. कथंचिद् अनेकान्त है और कथंचिद् अवक्तव्य है।
7. कथंचिद् एकान्त है, कथंचिद् अनेकान्त है और कथंचिद् अवक्तव्य है।

उपर्युक्त सप्तभंगी का आधार मूलतः प्रमाण और नय का विवक्षाभेद है। इसी तरह अनेकान्त की अनेकान्तात्मकता का आधार भी प्रमाण और नय का विवक्षाभेद ही है।

इस प्रकार उत्तरवर्ती प्रायः सभी श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों ने अनेकान्त को अनेकान्तात्मक सिद्ध करते हुए उसकी व्यापकता को उजागर किया है। उत्तरवर्ती आचार्यों के विचारों पर सिद्धसेन का जो प्रभाव रहा है उसे नकारा नहीं जा सकता।

सिद्धसेन ने अनेकान्त को व्यापक रूप में प्रस्तुत करते हुए जहां तर्क का अवलम्बन लिया, वहां दृष्टान्त और उदाहरणों की भी सर्वथा उपेक्षा नहीं की। तर्क भाषाविज्ञ व्यक्तियों के लिए ही उपयोगी होती है पर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उदाहरण की भाषा विज्ञ और सामान्य सभी के लिए उपयोगी होती है। सिद्धसेन ने युक्ति की तरह दृष्टान्तों के द्वारा भी अनेकान्त की विशदता को व्याख्यायित किया है। अनेकान्त के द्वारा वस्तु के स्वरूप की व्याख्या होती है। जगत् के आधारभूत तत्त्व दो हैं—जड़ और चेतन। कुछ विचारक उन्हें मात्र भिन्न मानते हैं तो कुछ अभिन्न। कुछ मात्र नित्यरूप मानते हैं तो कुछ मात्र अनित्यरूप। कुछ एक कहते हैं तो कुछ अनेक। अनेकान्त इस तरह के अनेक विकल्पों को सामने रखकर उनमें समन्वय स्थापित करते हुए कहता है कि ये तत्त्व सामान्य दृष्टि से देखने पर अभिन्न, नित्य और एक है तथा विशेष दृष्टि से देखने पर भिन्न, अनित्य और अनेक भी हैं। प्रमेय के विषय में यह अनेकान्त का एक उदाहरण माना जा सकता है।

इसी तरह अनेकान्त दृष्टि जब अपने विषय में प्रवृत्त होती है तो वह अपने स्वरूप का प्रतिपादन करती है। वह अनेक दृष्टियों का समुच्चय होने से अनेकान्त तो है ही पर एक स्वतंत्र दृष्टि होने से एकान्त दृष्टि भी है। यहां ज्ञातव्य है कि वह एकान्त दृष्टि भी यथार्थ पर आधारित होनी चाहिए। जिस प्रकार अनेकान्तदृष्टि एकान्तवाद के आधार पर प्रचलित अन्य मतवादों के अभिनिवेश से बचने की शिक्षा देती है, उसी प्रकार अनेकान्तदृष्टि के नाम से प्रतिष्ठित एकान्त आग्रहों से भी बचने की शिक्षा देती है। जैन प्रवचन अनेकान्तरूप है, ऐसा मानने वाला भी यदि उसमें आए हुए विचारों को एकान्त रूप से ग्रहण करें तो वह स्थूल दृष्टि से अनेकान्तवादी होने पर तात्त्विक दृष्टि से एकान्तवादी बन जाता है। परिणामस्वरूप वह सम्यग् दृष्टि नहीं रह पाता। उदाहरण के तौर पर हम ज्ञान और आचार का एक-एक प्रसंग सामने रखकर विचार कर सकते हैं।

9.3 तत्त्वमीमांसा में एकान्तता और अनेकान्तता सम्मत दृष्टिकोण

जैन तत्त्व मीमांसा के अनुसार संसारी जीवों के छह निकाय निर्दिष्ट हैं। आचार की दृष्टि से जीवघात अथवा हिंसा अधर्म का कारण है। इन दोनों विचारों एकान्त रूप से ग्रहण करने पर यथार्थता का लोप हो जाता है। फलत: अनेकान्त दृष्टि रह ही नहीं पाती। जीव की छह जातियां ही हैं अथवा छह ही जातियां हैं—ऐसा मानने पर चैतन्य रूप से जीव का एकत्व विस्मृत हो जाता है। दृष्टि में मात्र भेद ही रहता है। अत: पृथ्वीकाय आदि छ: विभागों को एकान्त रूप से ग्रहण न करके उनमें चैतन्य के रूप में जीवतत्त्व का एकत्व भी माना जाय तो उसका यथार्थ ग्रहण हो सकता है।

इसी तरह जीवघात को एकान्त हिंसा रूप समझने में भी यथार्थता का लोप होता है क्योंकि प्रसंग विशेष में जीव का घात हिंसा रूप नहीं भी होता। कोई अप्रमत्त मुनि सम्पूर्ण रूप से जागृत रहने पर और सम्पूर्ण यतना रखने पर भी जब जीव को बचा नहीं सकता, तब उसके द्वारा होने वाला वह जीवघात हिंसा की कोटि में नहीं आता। सामान्यतया जीवघात हिंसा ही है, उसे अहिंसा नहीं माना जा सकता। अत: जीवघात एकान्तत: न हिंसा रूप है और न अहिंसा रूप। हिंसा और अहिंसा—इस उभयात्मक स्वरूप की स्वीकृति ही अनेकान्तदृष्टि है और यही सम्यग्दर्शन है। सन्मति प्रकरण ग्रन्थ में प्रत्येक प्रमेय वस्तु पर अनेकान्तदृष्टि लागू करते हुए ग्रन्थकार ने कुछ दृष्टान्त दिए हैं—

गइपरिगयं गई चेव केइ णियमेण दवियमिच्छन्ति।
तं पि य उड्गईयं तहा गई अन्नहा अगई॥
गुणणिव्वतियसण्णा एवं दहणादओ वि दट्ठव्वा।
जं तु जहा पडिसिद्धं दव्वमदव्वं तहा होई॥
कुंभो ण जीवदवियं जीवा वि ण होइ कुंभदवियं ति।
तम्हा दो वि अदवियं अण्णोण्णविसेसिया होंति॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. स्थूल दृष्टि से विचार करने वाला कोई भी व्यक्ति जब किसी वस्तु विशेष को गतिशील देखता है तब वह ऐसा ही मानता और कहता है कि यह वस्तु गति वाली है। इसी बात की जब हम गहराई में उतरकर समीक्षा करें तब लगेगा कि उक्त मान्यता आंशिक रूप में ही यथार्थ है। कोई भी तिनका जब गति करता है तो वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी दिशाओं-विदिशाओं में गति नहीं करता। यदि वह ऊर्ध्वदिशा में गति करता है और नीची दिशा में गति नहीं कर सकता। एक समय में एक ही दिशा में संभव है। फलत: अन्य दिशाओं में अगतिशीलता अथवा स्थिरता स्वत: सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से विमर्श करने पर गति और गति के अभाव के कारण स्थूल दृष्टि से एक ही वस्तु में प्रतीत होने वाला गति-अगति का विरोध समाप्त हो जाता है। अनेकान्त का एक महत्त्वपूर्ण निदर्शन है—गति और अगति की सापेक्षता।
2. अग्नि का एक व्युत्पत्तिपरक नाम है—दहन। 'दहति इति दहन:' अर्थात् जो जलाता है उसे दहन अथवा आग कहा जाता है। वायु का एक व्युत्पत्तिपरक नाम है—पवन। 'पवति इति पवन:' अर्थात् जो भूसे को उड़ाकर अनाज के सूप की भांति साफ कर देता है उसे पवन कहा जाता है। स्थूलदृष्टि से देखने पर लगता है दहन दहन ही होता है वह अदहन नहीं हो सकता और पवन अपवन नहीं हो सकता। सूक्ष्मता में जाकर चिन्तन करने पर स्पष्ट हो जाता है दहन अदहन भी है और पवन अपवन भी है।

    आग पदार्थों को जलाती है इसलिए दहन है। यहां ज्ञातव्य है कि आग भी उन्हीं पदार्थों को जलाने में समर्थ है जो दाह्य है, जलने योग्य हैं। आकाश, आत्मा और परमाणु जैसे अदाह्य पदार्थों को आग भी जलाने में समर्थ नहीं। अत: वह दाह्य वस्तुओं की अपेक्षा से दहन होने पर भी अदाह्य वस्तुओं की अपेक्षा से अदहन है। दहन और अदहन दोनों सापेक्ष हैं। इसी तरह पवन सामान्य पदार्थों को हिला सकता है, उड़ा सकता है पर वह सुमेरू पर्वत को टस से मस भी नहीं कर सकता। इतना ही नहीं प्रलयंकारी तूफान भी सुमेरू को हिला नहीं सकते। अत: पवन पवन भी है और अपवन भी है। पवन और अपवन दोनों सापेक्ष हैं।
3. जीव एक स्वतंत्र द्रव्य है। उसकी स्वतंत्र सत्ता है अत: वह एक भावात्मक वस्तु है। इसी तरह घट आदि पौद्गलिक पदार्थों का भी स्वतंत्र अस्तित्व है। अत: ये भी भावात्मक हैं। अनेकान्त दर्शन के अनुसार कोई भी वस्तु एकान्तत: भावात्मक नहीं होती वह अभावात्मक भी होती है। यहां यदि हम इस पवन पर विचार करें तो क्या दोनों पूर्णतया सदृश हैं? अथवा इनमें भेद भी है? तो विरोध अविरोध में बदल जाएगा। जीव का गुण है—चैतन्यशीलता और पुद्गल का गुण है—वर्ण, गंध, रस और स्पर्श का होना। जीव द्रव्य चैतन्य की अपेक्षा भावात्मक होने पर भी वर्ण आदि पौद्गलिक गुणों की अपेक्षा भावात्मक नहीं है। इसी घट द्रव्य वर्ण, गंध आदि की अपेक्षा भावात्मक तथा चैतन्यशीलता की अपेक्षा अभावात्मक है। अत: किसी भी वस्तु में भावात्मकता और अभावात्मकता की सापेक्ष सत्ता को स्वीकार करना ही युक्तियुक्त है।

9.4 सारांश– कहना होगा कि सिद्धसेन दिवाकर ने अनेकान्तवाद को व्यापक संदर्भों में प्रस्तुत कर न केवल जैन परम्परा में प्रत्युत सम्पूर्ण दार्शनिक जगत् में अनेकान्त को प्रतिष्ठित करने का अपूर्व प्रयास किया है।

9.5 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार अनेकान्त की व्यापकता का विश्लेषण करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. आचार्य अकलंक के अनुसार एकान्त एवं अनेकान्त के भेदों का संक्षेप में विवेचन करें।
2. आचार की दृष्टि से जीवघात अथवा हिंसा अधर्म का कारण है। इसे स्पष्ट करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अध्यात्म का प्रथम .... है—सम्यग्दर्शन।
2. अनेकान्त एक व्यापक .... है।
3. अनेकान्त हमारे .... की शुद्धि करता है।
4. दृष्टिकोण सम्यग् तभी बनता है जब उसमें .... का समावेश हो।
5. स्यात् शब्द का प्रयोग .... और .... दोनों के साथ होता है।
6. आग को दहन क्यों कहा गया है?
7. अनेकान्त दृष्टि अपने स्वरूप का प्रतिपादन कब करती है?
8. जैन तत्त्व मीमांसा के अनुसार संसारी जीवों के कितने निकाय निर्दिष्ट हैं?
9. एक समय में कितनी दिशाओं में गति संभव है?
10. अनेकान्त की अनेकान्तात्मकता का आधार क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. सोपान
2. विचार पद्धति
3. विचारों
4. अनेकान्त
5. 1. प्रमाण और 2. नय
6. आग पदार्थों को जलाती है, इसलिए दहन कहा गया है।
7. जब अपने विषय में प्रवृत्त होता है।
8. छह
9. एक ही दिशा में
10. प्रमाण और नय का विवक्षाभेद।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–10 : सप्तभंगी का स्वरूप एवं भेद

संरचना

10.0 प्रस्तावना
10.1 उद्देश्य
10.2 सप्तभंगी का स्वरूप
10.3 प्रथम दो भंगों का स्वरूप
10.4 तृतीय, चतुर्थ भंग का स्वरूप
10.5 अवक्तत्यत्व का महत्त्व
10.6 शेष तीन भंगों का स्वरूप
10.7 प्रमाण सप्तभंगी और नयसप्तभंगी
10.8 प्रमाणसप्तभंगी
10.9 नयसप्तभंगी
10.10 सारांश
10.11 अभ्यास प्रश्नावली

10.0 प्रस्तावना

सप्तभंगी जैन-न्याय का वस्तु-विश्लेषण और प्रतिपादन का विशिष्ट सिद्धान्त है। इसमें सात प्रकार के विशेष प्रकथनों के माध्यम से किसी वस्तु अथवा धर्म को समग्रता से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। प्रत्येक प्रकथन सापेक्ष तथा विधि अथवा निषेधपरक होता है। श्रीमद् विमलदासजी ने 'सप्तभंगीतरङ्गि.णी' में तथा डॉ. भिखारीराव यादव ने अपनी पुस्तक 'स्याद्वाद और सप्तभंगीनय' में सप्तभंगी सिद्धान्त का तुलनात्मक और तार्किक ढंग से विस्तृत विवेचन किया है। उस विवेचन के कतिपय अंशों के आधार पर प्रस्तुत पाठ में सप्तभंगी के स्वरूप तथा उसके प्रकारों की संक्षिप्त चर्चा की जा रही है।

10.1 उद्देश्य

सप्तभंगी का सम्बन्ध अनेकान्त से है। अनेकान्त दर्शन में वस्तु को सातदृष्टियों से देखा व समझा समझाया जाता है। सप्तभंगी वचनात्मक भी है। उसके माध्यम से वस्तु की यथातथ्यता को बताया जाता है। प्रस्तुत पाठ में हम सप्तभंगी के स्वरूप व उसके भेदों के सम्बन्ध में निम्नबिन्दुओं के अन्तर्गत विशेष अध्ययन करेंगे।

10.2 सप्तभंगी का स्वरूप

अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद सिद्धान्त वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता को स्वीकार कर एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से नित्यत्व-अनित्यत्व आदि विरोधी धर्म युगलों का समन्वय करते हैं। एक साधारण मानव के लिए अनन्तधर्मात्मक वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप को जानकर उसका यथोचित शब्दों में वर्णन कर पाना संभव नहीं है; क्योंकि उसकी ज्ञान-शक्ति और शब्द-सामर्थ्य दोनों ही सीमित होती है। इसलिए अनन्तधर्मात्मक एवं अनेकान्तिक वस्तु के विवक्षित कथ्य धर्म को अविवक्षित शेष धर्मों से पृथक् करना अनिवार्य हो जाता है। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि उसके यथार्थ ज्ञान एवं कथन के लिए किसी ऐसी विधि या दृष्टि का उपयोग किया जाय, जिससे प्रकथन में विवक्षित धर्म का प्रतिपादन तो हो किन्तु उसमें अवस्थित अविवक्षित धर्मों की उपेक्षा न हो। मात्र इसी लक्ष्य को लेकर जैन आचार्यों ने अपनी प्रमाण-मीमांसा में सप्तभंगी की योजना की।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैन आचार्यों की दृष्टि में सप्तभंगी एक ऐसा सिद्धान्त है जो वस्तु का आंशिक किन्तु यथार्थ कथन करने में समर्थ होता है; क्योंकि उसके प्रत्येक भंग में प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द एक ऐसा प्रहरी है, जो प्रकथन की मर्यादा को संतुलित रखता है। वह संदेह एवं अनिश्चय का निरास कर वस्तु के किसी गुण-धर्म विशेष के सम्बन्ध में एक निश्चित स्थिति को अभिव्यक्त करता है कि वस्तु अमुक दृष्टि से अमुक धर्मवाली है। वह उस विवक्षित धर्म को शेष अविवक्षित धर्मों से पृथक् कर यह स्पष्ट करता है कि वस्तु में उन अविवक्षित धर्मों की भी अवस्थिति है। स्यात् पद इस बात पर बल देता है कि हमारे प्रकथन में वस्तु के अविवक्षित धर्मों की पूर्णतया उपेक्षा (Negation) न हो जाय।

सामान्य रूप से हमारी भाषा अस्ति (Positive) और नास्ति (Negative) की सीमाओं से बंधी हुई है। हमारा कोई भी प्रकथन या तो अस्तिवाचक होता है या नास्ति-वाचक। यदि हम इस सीमा का अतिक्रमण करना चाहते हैं तो हमें अवक्तव्यता (unexplicable) का सहारा लेना पड़ता है। इस प्रकार अस्ति, नास्ति और अवक्तव्यता, ये अभिव्यक्ति के प्रारूप हैं। अभिव्यक्ति के इन तीनों प्रारूपों में पारस्परिक संगति और अविरोध रहे ओर वे एक दूसरे के निषेधक न बनें। इसलिए जैन आचार्यों ने प्रत्येक प्रकथन के पूर्व 'स्यात्' पद लगाने की योजना की। इन तीनों अभिव्यक्तियों के प्रारूपों के पारस्परिक संयोग से स्यात् पद युक्त जो सात प्रकार के प्रकथन बनते हैं उसे सप्तभंगी कहते हैं।

जैन आचार्यों ने इस सप्तभंगी को विभिन्न रूपों में परिभाषित किया है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में सप्तभंगी का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि एक वस्तु में अविरोधपूर्वक विधि और प्रतिषेध की कल्पना को सप्तभंगी कहते हैं—"प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभंगी।" (तत्त्वार्थराजवार्तिक,1.6.5) अर्थात् प्रश्नकर्त्ता की जिज्ञासा को ध्यान में रखते हुए नाना धर्मों से समन्वित किसी पदार्थ के विवक्षित धर्म का अन्य धर्मों को अस्वीकार न करते हुए सप्त प्रकार के वाक्यों द्वारा कथन करना सप्तभंगी है।

पंचास्तिकाय में कहा गया है कि प्रमाण वाक्य से अथवा नय वाक्य से, एक ही वस्तु में अविरोध रूप से जो सत्-असत् आदि धर्म की कल्पना की जाती है उसे सप्तभंगी कहते हैं—एकस्मिन्नविरोधेन प्रमाणनयवाक्यतः। सदादिकल्पना या च सप्तभंगीति सा मता। (पंचास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति, श्लो.14, छाया 15,पृ.30)। सप्तभंगी तरंगिणी तथा न्याय-दीपिका में भी सप्तभंगों के समूह को ही सप्तभंगी कहा गया है—"सप्तानां भंगानां समाहारः सप्तभंगीति" (सप्तभंगीतरंगिणी, पृ.1)। 'सप्तभंगी नय प्रदीप प्रकरण' भी सप्तभंगी को इसी रूप में परिभाषित करता है। उसमें कहा गया है कि विधि और निषेध के द्वारा अपने अभिप्रेत अर्थ का अभिधान करने वाला नय समूह सप्तभंगी है—"विधिनिषेधाभ्यां स्वार्थमभिदधानः सप्तभंगीमनुगच्छति"— (सप्तभंगी-नय प्रदीप प्रकरणम्, 13)। इस प्रकार अनेकान्तवादियों ने अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक-एक धर्म को अभिमुख करके विधि-विशेष की कल्पना द्वारा सात प्रकार के भंगों (प्रकथनों) की योजना की है। इन्हीं सातों भंगों के समाहार को सप्तभंगी कहते हैं। ये सात भंग हैं—

1. स्यात् अस्ति = विधि कल्पना
2. स्यात् नास्ति = प्रतिषेध कल्पना
3. स्यात् अस्ति नास्ति च = विधि-प्रतिषेध कल्पना
4. स्यात् अवक्तव्यं = युगपत् विधि-प्रतिषेध कल्पना की अशक्यता
5. स्यात् अस्ति अवक्तव्यं = विधि कल्पना और युगपत् विधि-प्रतिषेध कल्पना की अशक्यता
6. स्यात् नास्ति अवक्तव्यं = निषेध कल्पना और युगपत् विधि-प्रतिषेध कल्पना की अशक्यता
7. स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तत्यञ्च = क्रमशः विधि-प्रतिषेध और युगपत् विधि-प्रतिषेध कल्पना की अशक्यता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

10.3 प्रथम दो भंगों का स्वरूप

किसी भी वस्तु के विषय में कथन के लिए मुख्य रूप से दो ही पक्ष होते हैं—प्रथम विधि पक्ष ओर दूसरा निषेध पक्ष। ये दोनों ही पक्ष एक ही वस्तु में एक ही साथ अपेक्षा भेद से विद्यमान रहते हैं; क्योंकि किसी वस्तु के विषय में एक पक्ष से कोई कथन किया जाता है तो दूसरा पक्ष भी उसी के साथ उपस्थित हो जाता है। जब हम किसी वस्तु के विषय में किसी गुण-धर्म का स्वीकारात्मक कथन करते हैं तो उसका प्रतिपक्षी निषेध पक्ष भी स्वाभाविक रूप से आ ही जाता है। उदाहरणार्थ जब हम कहते हैं कि अमुक वस्तु लाल है तो यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि वह हरी या पीली आदि नहीं है। इस प्रकार ये दोनों पक्ष (अस्ति-नास्ति) एक ही वस्तु में सदैव साथ-साथ विद्यमान रहते हैं। विधि, निषेध इन दोनों पक्षों के उपस्थित होने पर समन्वय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि दोनों पक्ष समन्वयकर्त्ता के समक्ष उपस्थित न हों तो उनमें समन्वय हो ही नहीं सकता। अत: समन्वय के लिए इन दोनों पक्षों का होना आवश्यक है। इस प्रकार विधि एवं निषेध के इन दो पक्षों से सप्तभंगी की विकास यात्रा शुरू होती है।

10.4 तृतीय, चतुर्थ भंग का स्वरूप

प्रथम दोनों भंगों में वस्तु का अस्तित्वप्रधान एवं नास्तित्वप्रधान प्रकथन किया जाता है किन्तु तृतीय भंग में वस्तु का उभयस्वरूप प्रधान कथन किया जाता है अर्थात् अस्तित्व ओर नास्तित्व दोनों ही मुख्यता से एक समय में एक वस्तु में पाये जाते हैं—इसकी ओर संकेत किया जाता है।

एक ही समय में आम में हरा रंग है और पीला रंग नहीं है। इस प्रकार है और नहीं—ये दोनों भिन्न-भिन्न अपेक्षा से समान रूप में प्रत्येक वस्तु में विद्यमान रहते हैं। हरे रंग का होना जितना मूल्यवान् या महत्त्वपूर्ण है, पीला रंगा का नहीं होना—यह भी उतना ही मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण है। इन दोनों के आधार पर ही आम का रंग-स्वरूप निर्धारित होता है। अत: तृतीय भंग विवक्षितधर्म के अखण्ड-स्वरूप का क्रमपूर्वक (Consecutive) कथन करता है। किन्तु यही स्वरूप एक ही शब्द में एकसाथ (Simultaneous) कहना चाहें तो अवक्तव्य बन जाता है। अस्तित्व-नास्तित्व दोनों का कथन एकसाथ करना संभव नहीं है। इन दोनों स्वरूपों का वस्तु में दर्शन (Realisation) तो किया जा सकता है किन्तु अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती। अखण्ड रूप की अभिव्यक्ति की असंभव्यता को अवक्तव्य नामक चौथे भंग के माध्यम से सूचित किया गया है।

मुख्य बात यह है कि वस्तु के विभिन्न गुण-धर्मों अथवा किसी एक गुण-धर्म का विधि-निषेध एक ही प्रकथन के द्वारा संभव नहीं है। प्रकथन सदैव क्रमिक ही होता है युगपत् नहीं। आधुनिक तर्कशास्त्र यह मानता है कि उद्देश्य के जितने विधेय होते हैं वे सब अलग-अलग प्रकथन की रचना करते हैं, और वे सभी प्रकथन या तो विधेयात्मक होते हैं या निषेधात्मक; किन्तु युगपत् नहीं। वस्तुत: विधि और निषेध रूप प्रकथन स्वतंत्र होते हैं। इसीलिए आधुनिक तर्कशास्त्र तर्कवाक्यों को विधेयात्मक और निषेधात्मक दो वर्गों में विभक्त करता है। इसी बात को दोहराते हुए जैनदर्शन भी कहता है कि वस्तु के अनन्त पक्ष या अनन्त विधेय हैं इसलिए उसके सम्बन्ध में अनन्त प्रकथन किये जा सकते हैं। वे सभी प्रकथन या तो विधिमूलक होते हैं या निषेधमूलक। किन्तु ज्योंही विधि और निषेध को युगपत् रूप से कहने की बात आती है त्योंही उसे अवक्तव्य कहना पड़ता है।

10.5 अवक्तव्य का महत्व

अवक्तव्य का महत्त्व इसीलिए है कि वह वस्तु की सापेक्ष वाच्यता और सापेक्ष अवाच्यता का परिचायक है तथा भाषायी अभिव्यक्ति की सीमा को निर्धारित करता है। वह पूर्व के तीनों भंगों से इसलिए भिन्न है कि जहां प्रथम तीन भंग वस्तु की सापेक्ष वाच्यता को लेकर अस्ति रूप से वस्तु स्वरूप का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रतिपादन करते हैं, वहां यह भंग एक ही वाक्य में और समग्रतया वस्तु की अवाच्यता को सूचित करता है। इसलिए यह पूर्वोक्त तीनों भंगों से भिन्न और नवीन है।

अवक्तव्य को अद्वैतवेदान्त की अनिर्वचनीयता नहीं कह सकते हैं। जिस प्रकार जैनदर्शन में वस्तु के समग्र स्वरूप को युगपत् रूप से अवाच्य या अवर्णनीय कहा गया है। ठीक उसी प्रकार सत्ता के संदर्भ में अद्वैतवेदान्ती शंकराचार्य का भी मत है। शंकराचार्य ने भी यह माना है कि सत्-असत् एक और अनेक, गुणवत् और अगुणवत्, सविशेष और निर्विशेष, सबीज और निर्बीज, साकार और निराकार, शून्य और अशून्य आदि सभी कल्पनायें यहां तक कि सत्, चित्, आनन्द आदि लक्षण भी परमतत्त्व की विवेचना में असमर्थ ही है; क्योंकि वह तत्त्व, वाणी और बुद्धि के समस्त प्रत्ययों से परे है; उनकी सीमा से बाहर है। इसलिए उपनिषदों ने उसे 'नेति'नेति' कहकर परिभाषित किया है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसकी सत्ता ही नहीं है। उसकी सत्ता है किन्तु उस सत्ता का विवेचन भावात्मक शब्दों के द्वारा संभव नहीं है। इसलिए वह अनिर्वचनीय है।

नागार्जुन ने सत्ता के स्वरूप-विवेचन में चतुष्कोटि न्याय की स्थापना की थी। परन्तु शंकर ने उस संदर्भ में इस चतुष्कोटि न्याय का भी निषेध करके कहा कि जब चरमतत्त्व को मानसिक प्रत्ययों में बांधा ही नहीं जा सकता और वाणी से उसकी अभिव्यक्ति संभव ही नहीं है तब उसे चतुष्कोटि न्याय का विषय कैसे बनाया जा सकता है? अतः वह इस चतुष्कोटि न्याय से भी परे है। इसका आशय यह है कि उस तत्त्व के संदर्भ में किसी प्रकार भी कुछ कहना संभव नहीं है किन्तु जैन मत इसके विपरीत है। जैन विचारणा के अनुसार तत्त्व विवेच्य अवश्य है किन्तु क्रमशः, अक्रमशः नहीं। यद्यपि तत्त्व अनन्त धर्मात्मक है और उसके उन अनन्त धर्म का ज्ञान साधारण मानव के लिए असंभव है। जिसके फलस्वरूप एक साधारण मानव तत्त्व के समग्र स्वरूप के विवेचन में असमर्थ है किन्तु सर्वज्ञ को तो उसका पूर्णतः ज्ञान होता ही है। इसलिए वह तो उसके विवेचन में समर्थ ही होगा। लेकिन जब तत्त्व के उन गुण-धर्मों को युगपत् कहने की बात आती है तो वहां सर्वज्ञ भी असमर्थ ही हो जाता है। वस्तुतः वह भी उसे अवक्तव्य या अवाच्य ही कहता है। इस प्रकार जहां अद्वैतवेदान्त तत्त्व की अनिर्वचनीयता का कारण उसके स्वरूप को मानता है वहां जैन-धारणा अवक्तव्यता का कारण भाषा की अक्षमता को मानती है। अस्तु, अद्वैत-वेदानत सम्मत अनिर्वचनीय और जैन-सम्मत अवक्तव्य को एक नहीं कहा जा सकता है।

1. अद्वैत वेदान्त सम्मत अनिर्वचनीयता विषयीगत है; क्योंकि वह विषयी अर्थात् चरमतत्त्व के स्वरूप को ही अनिर्वचनीय कहती है जबकि जैन-अवक्तव्यता भावात्मक है; क्योंकि यह युगपत् कथन में भाषा की असमर्थता को प्रकट करता है।
2. अनिर्वचनीयता निरपेक्ष है; क्योंकि यह स्वीकार करती है कि तत्त्व कथमपि विवेच्य नहीं है किन्तु अवक्तव्य भंग सापेक्ष है। यह तत्त्व को सापेक्षतः (Relatively) वाच्य और सापेक्षतः अवाच्य बताता है।
3. अनिर्वचनीयता एक निषेधात्मक दृष्टिकोण है; क्योंकि यह उसके निषेध के अतिरिक्त उस संदर्भ में कुछ भी नहीं कहती है। जबकि अवक्तव्य किसी सीमा तक निषेध रूप है और किसी सीमा तक विधेयरूप भी है; क्योंकि वह तत्त्व को अवक्तव्य के साथ ही वक्तव्य भी कहता है।

यहां यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जैनदर्शन में अवक्तव्यता (अवाच्यता) को भी दो वर्गों में विभक्त किया गया है—1. सापेक्ष अवक्तव्यता 2. निरपेक्ष अवक्तव्यता

निरपेक्ष अवक्तव्यता वस्तु को स्वरूपतः अनिर्वचनीय या अवाच्य मानती है। उसके अनुसार भाषा सत्ता को अभिव्यक्त करने में कथमपि समर्थ नहीं है। जबकि सापेक्ष अवक्तव्यता सत्ता को किसी सीमा तक वाच्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भी मानती है। वह केवल यह बताती है कि सत्ता का क्रमपूर्वक प्रतिपादन संभव है युगपत् रूप से नहीं। सत्ता के विविध पहलुओं का पृथक्-पृथक् विवेचन तो संभव है किन्तु समग्र सत्ता का विवेचन भाषा की अपनी सीमा के कारण संभव नहीं है।

10.6 शेष तीन भंगों का स्वरूप

हमें सम्पूर्ण स्वरूप की अवक्तव्यता के आधार पर यह भी नहीं मान लेना चाहिये कि वस्तु किसी भी प्रकार से कही नहीं जा सकती है। अवक्तव्यस्वरूप होने पर भी अस्तित्व की अपेक्षा से अथवा नास्तित्व की अपेक्षा से वस्तु का कथन किया जा सकता है। इसी प्रकार उभय पक्षों से भी क्रमपूर्वक कथन करने पर वस्तु की अवक्तव्यता खण्डित नहीं होती है। यही कारण है कि अवक्तव्य के पश्चात् तीन सांयोगिक भंगों की योजना सप्तभंगी के अन्तर्गत की गई। जितना वस्तु के विषय में कहना शक्य है वह अस्ति, नास्ति के माध्यम से कहें किन्तु जो अंश कहना शक्य नहीं है वहां अवक्तव्य का सहारा लें। इस प्रकार विधि, निषेध और अवक्तव्य तथा उनके पारस्परिक योग से कथन के सात भंग निर्धारित हुए।

10.7 प्रमाण सप्तभंगी और नयसप्तभंगी

जैसे एक ज्ञान एक समय में अनेक धर्मात्मक वस्तु को जान सकता है, उसी तरह एक शब्द एक समय में वस्तु के अनेक धर्मों का बोध नहीं करा सकता। इसलिए वक्ता किसी एकधर्म का अवलम्बन लेकर ही वचनव्यवहार करता है। यदि वक्ता एक धर्म के कथन के द्वारा पूर्ण वस्तु का बोध कराना चाहता है तो उसका वाक्य प्रमाणवाक्य कहा जाता है और यदि वह एक ही धर्म का बोध कराना चाहता है तथा वस्तु में वर्तमान शेष धर्मों के प्रति उसकी दृष्टि उदासीन है तो उसका वाक्य नयवाक्य कहा जाता है।

यथार्थ में तो नय के लक्षण के अनुसार जितना भी वचनव्यवहार है वह सब नय है। इसी से सिद्धसेन दिवाकर ने नयों के भेदों की संख्या बतलाते हुए कहा है कि जितने वचन के मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं। आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन ये दोनों ही एक तरह से स्याद्वाद के पिता और पोषक तथा रक्षक हैं। इन दोनों ने ही अपने 'आप्तमीमांसा' तथा 'सन्मति तर्क' में नय सप्तभंगी का ही कथन किया है। उनके उत्तराधिकारी और जैनन्याय के प्रस्थापक अकलंकदेव ने ही सर्वप्रथम प्रमाणसप्तभंगी का स्पष्ट कथन किया है। अपने 'तत्त्वार्थवार्तिक' (पृ. 252) में वस्तु को अनेक धर्मात्मक सिद्ध करने के पश्चात् अकलंकदेव कहते हैं कि—अनेक धर्मात्मक वस्तु का बोध कराने के लिए प्रवर्तमान शब्द की प्रवृत्ति दो रूप से होती है क्रम से (Consecutively) अथवा योगपद्य से (Simultaneously)। तीसरा वचनमार्ग नहीं है। जब वस्तु में वर्तमान अस्तित्वादि धर्मों की काल आदि के द्वारा भेद विवक्षा होती है तब एक शब्द में अनेक अर्थों का ज्ञान कराने की शक्ति का अभाव होने से क्रम से कथन होता है और जब उन्हीं धर्मों में काल आदि के द्वारा अभेद विवक्षा होती है तब एक शब्द से भी एक धर्म का बोध कराने की मुख्यता से तादात्म्यरूप से एकत्व को प्राप्त सभी धर्मों का अखण्डरूप से युगपत् कथन हो जाता है। जब युगपत् कथन होता है तब उसे सकलादेश होने से प्रमाण कहते हैं और जब क्रम से कथन होता है तो विकलादेश होने से उसे नय कहते हैं। सकलादेश और विकलादेश दोनों में सप्तभंगी होती है। प्रथम को प्रमाणसप्तभंगी कहते हैं और दूसरे को नयसप्तभंगी कहते हैं।

प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगी के कथन प्रकार में कोई मौलिक अन्तर नहीं होता है अर्थात् दोनों ही भंगों के अन्तर्गत स्यादस्ति, स्यात् नास्ति आदि भंगों के माध्यम से ही किसी वस्तु अथवा धर्म का विधि और निषेध की भाषा में कथन किया जाता है। तब प्रश्न होगा कि कैसे पहचाना जायें कि अमुक वाक्य प्रमाणसप्तभंगी का है अथवा नयसप्तभंगी का? सामान्यत: इसका समाधान यही है कि यह वक्ता की विवक्षा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पर आधारित है। अर्थात् वक्ता समग्र वस्तु को दृष्टिगत रखते हुए वाक्य का प्रयोग करता है तो वह प्रमाण सप्तभंगी तथा किसी धर्म विशेष को लक्ष्यकर वाक्य का प्रयोग करता है तो वह नय सप्तभंगी है। उदाहरणार्थ 'किसी अपेक्षा से कुर्सी का अस्तित्व है' इस वाक्य में वक्ता यदि सम्पूर्ण कुर्सी की ओर संकेत करते हुए कहता है कि कुर्सी है तो यह कथन प्रमाण सप्तभंगी के अन्तर्गत मान्य होगा। दूसरी ओर, इस कथन में वक्ता कुर्सी को न कहकर उसके एक धर्म 'अस्तित्व' के बारे में ही कहना चाहता है तो यही वाक्य नयसप्तभंगी के अन्तर्गत चला जाता है।

10.8 प्रमाण सप्तभंगी

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रमाण-सप्तभंगी और नयसप्तभंगी में अन्तर का आधार अभेद-विवक्षा तथा भेदविवक्षा है। प्रमाण सप्तभंगी के अन्तर्गत प्रत्येक कथन किसी एक धर्म को आलम्बन लेकर ही व्यक्त होता है फिर भी उसे प्रमाणवाक्य अथवा सकलादेश माना जाता है। यह वक्ता की विवक्षा के कारण संभव है अर्थात् वक्ता समग्र वस्तु को समझाने के अभिप्राय (विवक्षा) से उस वाक्य का प्रयोग करता है तो निश्चित ही वह प्रमाणवाक्य होगा। यहां यह शंका स्वाभाविक है कि एक धर्म अनन्तधर्मात्मक वस्तु का कथन कैसे कर सकता है? इसके अतिरिक्त जिस धर्म का कथन किया जाता है वस्तु में उससे विपरीत धर्म भी विद्यमान रहते हैं उनका ज्ञान कैसे संभव है। विधि कभी भी निषेध का ज्ञान नहीं करवा सकता है। ऐसी स्थिति में प्रमाण सप्तभंगी की योजना संभव नहीं।

'सप्तभंगीतरंगीणी' में उपर्युक्त समस्या के समाधान हेतु अभेदवृत्ति और अभेदोपचार की युक्तियां प्रस्तुत की गई हैं। अभेदवृत्ति का तात्पर्य है पदार्थ और उसके गुणधर्म भिन्न नहीं हैं। अत: किसी एक धर्म का कथन सम्पूर्ण वस्तु का कथन ही है। अभेदोपचार से तात्पर्य है धर्म परस्पर भिन्न स्वरूप हैं तथापि एक द्रव्य से उनका तादात्म्य-सम्बन्ध होने से उनमें अभेद मान लिया जाता है। अभेदोपचार एक प्रकार से माना हुआ सत्य (Conceptual truth) है। अभेदवृत्ति और अभेदोपचार को संस्था और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर सुगमता से समझा जा सकता है। कोई भी संस्था भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का संगठित रूप है। उन व्यक्तियों से भिन्न संस्था का कोई अस्तित्व नहीं है। अत: जहां कहीं संस्था का प्रतिनिधित्व करना होता है किसी एक व्यक्ति अथवा एकाधिक व्यक्तियों को भेजा जाता है। उस एक व्यक्ति की उपस्थिति सम्पूर्ण संस्था की उपस्थिति के रूप में स्वीकार की जाती है। इसीलिए जब यह पूछा जाता है कि सम्मेलन में किन-किन संस्थाओं ने भाग लिया तो कहा जाता है कि अमुक-अमुक संस्थाओं ने इसमें भाग लिया है। फिर चाहे उपस्थित कोई एक व्यक्ति ही हुआ हो। जैसे संस्था और व्यक्ति में अभेदवृत्ति होने से एक व्यक्ति के माध्यम से सम्पूर्ण संस्था की उपस्थिति को अयुक्तियुक्त नहीं कहा जाता है। वैसे ही एक धर्म का कथन सम्पूर्ण वस्तु का कथन है इसमें संदेह कोई अवकाश नहीं है। दूसरी ओर संस्था और व्यक्ति में भिन्नता है। संस्था समुदाय या समष्टिरूप होती है जबकि व्यक्ति व्यष्टिरूप है। फिर भी इन दोनों का अस्तित्व और हित परस्पर जुड़ा हुआ है इसलिए इनमें अभेद स्वीकार किया जाता है। वस्तुत: उनमें अभेद होता नहीं है किन्तु मान लिया जाता है—यही अभेदोपचार की स्थिति है। इसमें एक व्यक्ति की उपस्थिति सम्पूर्ण संस्था की उपस्थिति मान ली जाती है। जिस व्यक्ति को भेजा गया है उससे भिन्न स्वभाव और क्षेत्र में कार्य करने वाले अन्य व्यक्ति भी उस संस्था में रहते हैं किन्तु चूंकि सभी एक संस्था से जुड़े हुए हैं अत: एक की उपस्थिति सबकी उपस्थिति मान ली जाती है। इसी प्रकार एक गुणधर्म का कथन समस्त विरोधी, अविरोधी गुणधर्मों का कथन है—ऐसा मान लिया जाता है, क्योंकि एक द्रव्य के साथ उनका तादात्म्य सम्बन्ध है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अभेदवृत्ति और अभेदोपचार की आधारभूत आठ दृष्टियां है—काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्द। इन आठ तथ्यों के कारण एक धर्म अन्य सभी धर्मों के साथ साम्यता रखता है। यही कारण है कि एक के माध्यम से अन्यान्य सभी धर्मों का भी कथन होता है। दो जुड़वा बच्चे होते हैं। उनमें यदि आकृति, उम्र, स्वभाव इत्यादि बातों को लेकर समानता पाई जाती है तो एक का परिचय देने पर दूसरे का परिचय देने की आवश्यकता नहीं रहती है। इतना ही कहने की आवश्यकता रहती है कि जैसा यह है दूसरा भी वैसा ही है। ठीक इसी प्रकार उपर्युक्त आठ बातें जिस प्रकार एक धर्म में पाई जाती हैं उसी प्रकार वस्तु में वर्तमान दूसरे अन्य धर्मों में भी पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ—प्रमाणसप्तभंगी का प्रथम भंग बना—'स्यादस्त्येव घट:' —घट किसी अपेक्षा से अपना अस्तित्व रखता ही है। इसमें घट के अस्तित्व धर्म का कथन किया गया। कालदृष्टि से इस धर्म पर विचार करें तो पायेंगे कि जिस समय घट में अस्तित्व धर्म पाया जाता है उसी समय अन्यान्य धर्म भी पाये जाते हैं। एक ही समय में एक ही पदार्थ में उन सभी धर्मों की सहस्थिति होने से काल की अपेक्षा से उनमें अभेदवृत्ति है—तेषामेककालावच्छिन्नैकाधिकरणवृत्तित्वं कालेनाभेदवृत्ति:। आत्मरूप की दृष्टि से भी चिन्तन करें तो पायेंगे कि अस्तित्व जिस प्रकार घट पदार्थ का एक गुण है। घट का गुण होना अस्तित्व का स्वरूप है। इसी प्रकार अन्यान्य सभी धर्म भी घट के ही गुण हैं। उनका स्वरूप भी घट पदार्थ का गुण होना ही है। अर्थ की दृष्टि से अस्तित्व का आधार जैसे एक घट पदार्थ है वैसे ही अन्य सभी धर्मों का आधार भी वही घट है—एकाधारवृत्तित्वमर्थेनाभेदवृत्ति:। सम्बन्ध पर विचार करें तो पायेंगे कि अस्तित्व गुण का अपने गुणी घट पदार्थ के साथ कथंचित् तादात्म्य-सम्बन्ध है। गुण बिना गुणी के नहीं पाया जाता है। गुणी भी गुण के अभाव में अपना अस्तित्व नहीं रखता। अत: इस दृष्टि से इनमें तादात्म्य है। विवक्षित 'अस्तित्व' धर्म घट पदार्थ के अभाव में नहीं पाया जाता। अत: घट और अस्तित्व में तादात्म्य (एकता) है। जिस प्रकार अस्तित्व धर्म का अपने धर्मी के साथ तादात्म्य है उसी प्रकार अन्यान्य सभी धर्मों का भी जो उस समय घट में विद्यमान हैं, घट के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं क्योंकि गुण और गुणी, आधार और आधेय, धर्म और धर्मी के रूप में उनमें परस्पर भेद भी है—'कथंचित्तादात्म्यलक्षणोऽस्तित्वस्य सम्बन्धस्स एवानन्तधर्माणामपीत्येकसम्बन्धप्रतियोगित्वं सम्बन्धेनाभेदवृत्ति:।' उपकार का तात्पर्य स्वयं के वैशिष्ट्य का सम्पादन अथवा अपनी ओर से विशेष योगदान देना। प्रत्येक गुण अपने पदार्थ में कुछ न कुछ विशिष्टता पैदा करता ही है। अस्तित्व वस्तु को सद्रूप (Existent) बनाता है वैसे ही उसमें पाये जाने वाले नील, पीतादि रंग उसे नीला या पीला रूप प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त तद्गुणविशिष्ट वस्तु का बोध कराना भी उपकार है। अस्तित्व गुण अस्तित्वयुक्त घट पदार्थ का ज्ञापक होता है वैसे ही नीलादि रंग नीलवर्णयुक्त घट विशेष का ज्ञान करवाते हैं। इस प्रकार सभी गुणों का कार्य एक-सा ही होने से उनमें अभिन्नता सिद्ध होती है—'इत्येककार्यजनकत्वमुपकारेणाभेदवृत्ति:।' गुणिदेश से तात्पर्य पदार्थ का हिस्सा अथवा भाग है। अस्तित्व पदार्थ के जिस भाग में पाया जाता है नास्तित्व आदि अन्य धर्म भी पदार्थ के उसी भाग में पाये जाते हैं। ऐसा नहीं होता कि अस्तित्व घट के मुखभाग में पाया जाता है तथा नास्तित्व उसके तलभाग में पाया जाता है। अत: स्थान की दृष्टि से भी उनमें समानता है—'एकदेशावच्छिन्नवृत्तित्वं गुणिदेशेनाभेदवृत्ति:।' संसर्ग भेदप्रधान सम्बन्ध है। संसर्ग की दृष्टि से घट पदार्थ के साथ अस्तित्व का जैसा सम्बन्ध है वैसा ही सम्बन्ध अन्य धर्मों का भी है। ये सभी गुण-गुणी भाव सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं। इस प्रकार संसर्ग की अपेक्षा से भी ये सभी धर्म साम्यता रखते हैं। शब्द की दृष्टि से भी अस्तित्व आदि धर्म परस्पर साम्यता लिये हुए हैं। 'अस्तित्व' शब्द अस्तित्ववान् वस्तु का वाचक बनता है वैसे ही 'नास्तित्व' आदि शब्द भी उस प्रकार के धर्म से युक्त उसी एक वस्तु के ही वाचक बनते हैं। इस प्रकार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

काल आदि के आधार पर धर्मों का परस्पर में तथा आधारभूत द्रव्य के साथ अभेद सम्बन्ध है। यह अभेदवृत्ति तभी संभव है जब द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता रहे और पर्यायार्थिक नय गौण रहे। कहने का तात्पर्य है वस्तु तथा धर्मों के मध्य पाई जाने वाली विशिष्टताओं को गौणकर समानताओं को मुख्यता देने पर ही वे अभिन्न और अन्योन्याश्रित प्रतीत होते हैं अन्यथा उनमें भेद दृष्टिगोचर होता है। भेद की स्थिति में उन्हें अभिन्न मानना अभेदोपचार कहलाता है।

10.9 नय सप्तभंगी

नयसप्तभंगी का आधार भेदवृत्ति एवं भेदोपचार है। भेदवृत्ति अर्थात् वस्तुतः भेद का होना, भेदोपचार अर्थात् द्रव्यार्थिक दृष्टि से भेद न होने पर भी पर्यायार्थिक दृष्टि से उसे मानना। द्रव्यार्थिकनय को गौण करने पर तथा पर्यायार्थिक नय को मुख्यता देने पर नयसप्तभंगी अस्तित्व में आती है। इसके अन्तर्गत वक्ता की दृष्टि भिन्नता पर रहती है फलतः उसे द्रव्य तथा उसके गुणों में भेद दृष्टिगोचर होता है। ऊपर जिन आठ दृष्टियों के आधार पर हमने पदार्थ और उसके गुणों में अभेद स्थापित होते हुए देखा नयसप्तभंगी में उन्हीं आठ दृष्टियों के आधार पर पदार्थ तथा गुण परस्पर एक दूसरे से भिन्न होते हुए दिखाई देते हैं। यही कारण है कि नयसप्तभंगी का प्रत्येक प्रकथन विवक्षित धर्म का ही ज्ञान करवाता है उससे भिन्न अन्य धर्मों का नहीं। उदाहरणार्थ—कालदृष्टि से विचार करें तो एक ही वस्तु में एक समय में परस्पर विरुद्ध नाना गुणों का रहना संभव नहीं है। यदि किसी प्रकार से संभव मान लिया जाय तो जितने प्रकार के गुण होंगे उतने ही प्रकार का गुणी होगा। गुणभेद से गुणीभेद को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। आचार्य सिद्धसेन ने इसी तथ्य के आधार पर वस्तु की विविधता की सिद्धि की है। उनका कहना है कि—

एगदवियम्मि जे अत्थपज्जया वयणपज्जया वा वि।
तीयाणागयभूया तावइयं तं हवइ दव्वं॥ **(सन्मति, 1/31)**

अर्थात् एक पदार्थ में अतीत, वर्तमान और भविष्य में होने वाली जितनी अर्थपर्याय तथा व्यञ्जनपर्याय हैं, पदार्थ भी उतने ही प्रकार का है। इस आधार पर अस्तित्व का आधारभूत द्रव्य अन्य धर्मों के आधारभूत द्रव्य से भिन्न है। दूसरा, विरोधी गुणों अथवा पर्यायों का समकाल में रहना इसलिए भी असंभव है चूंकि पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। काला रंग और सफेद रंग दो भिन्न समयों में अस्तित्व में आते हैं। आज कोई परमाणु काले रंग का है थोड़े समय पश्चात् वह सफेद रंग का हो जाता है। परमाणु में यद्यपि ये दोनों रंग हैं किन्तु एक ही समय में नहीं, अपितु भिन्न समयों में पाये जाते हैं। इसी प्रकार आत्मरूप के आधार पर भी विरोधी गुण-पर्यायों की एक द्रव्य में संभावना नहीं है। द्रव्यार्थिक दृष्टि से इनके सम्बन्ध का आधार बना 'गुणत्व' या 'धर्मत्व' किन्तु पर्यायार्थिक दृष्टि से गुण का गुणसामान्य (गुणत्व) से सम्बन्ध होने पर भी प्रत्येक गुण अपने आप में विशिष्टता लिये हुए है। उस विशिष्टता के कारण उनमें ऐक्य संभव नहीं है। काला रंग और सफेद रंग दोनों ही रंग हैं किन्तु एक काला है और दूसरा सफेद। कालिमा और सफेदी में एकता कैसे हो सकती है—'स्वरूपाभेदे तेषां परस्परभेदस्य विरोधात्।' ऐसे ही अर्थ की दृष्टि से भी धर्मों, पर्यायों तथा गुणों की अभेदवृत्ति संभव नहीं है। नानाधर्मों अथवा गुणों का आधाररूप द्रव्य एक मान लिया जाय तो गुणों की भिन्नता ही सिद्ध नहीं होगी। प्रमाणसप्तभंगी के अन्तर्गत द्रव्यार्थिक दृष्टि की मुख्यता होने से द्रव्य और गुण में तादात्म्य होने से एकता, अभिन्नता असंगत नहीं है। किन्तु पर्यायार्थिक दृष्टि में जब सर्वत्र भेद ही दृष्टिगोचर होता है तब अभेद, एकता को कैसे सिद्ध किया जा सकता है। एक बालक पिता की दृष्टि से पुत्र और भाई की दृष्टि से भाई कहलाएगा। दो दृष्टियों में पदार्थ एकरूप नहीं हो सकता। इसी प्रकार दो गुणों का आधार एक पदार्थ नहीं हो सकता। सम्बन्ध से भी अभेद संभव नहीं है क्योंकि सम्बन्धी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के भेद से सम्बन्ध का भी भेद देखा जाता है। जैसे रिक्शा पास में होने पर व्यक्ति रिक्शेवाला कहलाता है उसी प्रकार तांगा पास में होने से तांगेवाला कहलाता है। इसी प्रकार उपकार भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होने से एक गुण दूसरे गुण से साम्यता लिए हुए नहीं है। अस्तित्व वस्तु का विधिपरक बोध उत्पन्न करता है जबकि नास्तित्व निषेधपरक बोध उत्पन्न करता है। उपकारों का भेद अस्वीकार करने पर कार्य नानात्वकी सिद्धि नहीं होगी। कार्यभेद के अभाव में कारणभेद की संभावना स्वत: निरस्त हो जाती है जो कि अनुभव विरुद्ध है। गुणीदेश की दृष्टि से भी धर्मों, गुणों और पर्यायों में पारस्परिक ऐक्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। गुणभेद से गुणीदेश का भेद स्वत: सिद्ध है अन्यथा विवक्षित पदार्थ से भिन्न पदार्थों के गुणों के देश में भी अभेद स्थापित हो सकता है। घट के जिस भाग में रक्तिमा रहती है, कालिमा उससे भिन्न भाग में रहती है अन्यथा रंगभेद का ज्ञान ही अशक्य हो जाएगा। ऐसा स्वीकार न किया जाय तो न केवल रक्तिमा और कालिमा के गुणिदेश की ही एकता को स्वीकार करना होगा अपितु घट से भिन्न पट पदार्थ के जिस भाग में सफेदी पाई जाती है उस भाग की भी पूवोक्त गुणीदेशों से अभिन्नता माननी होगी क्योंकि गुणीदेश की बात सर्वत्र समान है—तदभेदे भिन्नार्थगुणानामपि गुणीदेशाभेदप्रसंगात्। संसर्ग की दृष्टि से भी नानागुण-धर्मों और पर्यायों में समानता नहीं पाई जाती है। भिन्न-भिन्न प्रकार के संसर्गी से संसर्ग भी अनेक प्रकार का हो जाता है—'संसर्गस्यापि संसर्गिभेदेन भेदात्।' बर्फीली हवाओं के संसर्ग से प्रकृति में ठण्डक होगी और लू चलने से गर्मी। दोनों स्थितियों में प्रकृति एकरूप नहीं देखी जाती है। शब्द के कारण भी गुणधर्मों में एकता संभव नहीं है क्योंकि प्रत्येक शब्द का अपना-अपना अर्थ होता है। अस्तित्व अर्थसहित घट शब्द से नास्तित्व अर्थ देने वाला घट शब्द भिन्न है। इसके विपरीत यदि शब्दों में अर्थभेद (वाच्यभेद) को स्वीकार न किया जाय तो भिन्न-भिन्न पदार्थों के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। फलत: सारे ही शब्दकोश (Dictionary)व्यर्थ होंगे—**"सर्वगुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यापत्त्या शब्दान्तरवैफल्यापत्तेः।"**

10.10 सारांश– इस प्रकार पर्यायार्थिक दृष्टि में विविध प्रकार के गुणो, धर्मों और पर्यायों में परस्पर भेद होने से एक गुण अथवा धर्म का कथन अन्य गुणों अथवा धर्मों का बोध नहीं कराता है। द्रव्यार्थिक दृष्टि अभेदप्रधान होती है जबकि पर्यायार्थिक दृष्टि भेदप्रधान होती है। इसके अनुसार प्रत्येक गुण द्रव्य तथा द्रव्य के अन्य गुणों से अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। इस स्वतंत्रता के कारण ही नाना प्रकार के परिणमन, कार्य और प्रयोजन सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार प्रमाणसप्तभंगी एवं नयसप्तभंगी की चर्चा का परिसमापन होता है।

10.11 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. सप्तभंगी के स्वरूप एवं प्रकारों पर विस्तार से प्रकाश डालें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगी में अन्तर स्पष्ट करें।
2. अभेदवृत्ति और अभेदोपचार तथा भेदवृत्ति और भेदोपचार से आप क्या समझते हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

किन्हीं पांच का एक शब्द में उत्तर दें—

1. अभेदविवक्षा और भेदविवक्षा का क्या अर्थ है?
2. अभेद और भेद की आधारभूत दृष्टियां कितनी है नामोल्लेख करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. संसर्ग और सम्बन्ध में क्या अन्तर है?
4. क्या प्रमाणसप्तभंगी व नयसप्तभंगी के कथन प्रकार में कोई मौलिक भेद है?
5. अवक्तव्य भंग सापेक्ष है या निरपेक्ष?
6. द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय में क्या अन्तर है?
7. गुणिदेश का क्या अर्थ है?
8. प्रमाणसप्तभंगी की सर्वप्रथम चर्चा किसने की?
9. प्रमाणवाक्य अथवा सकलादेश क्या है?
10. नयवाक्य अथवा विकलादेश क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. अभेद को कहने की इच्छा और भेद को कहने की इच्छा।
2. आठ/काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणीदेश, संसर्ग और शब्द।
3. संसर्ग भेदप्रधान है जबकि सम्बन्ध अभेदप्रधान।
4. नहीं।
5. सापेक्ष।
6. एक सामान्यग्राही है दूसरा विशेषग्राही।
7. पदार्थ का हिस्सा या भाग।
8. अकलंकदेव ने।
9. एक धर्म के कथन द्वारा सम्पूर्ण धर्मों का कथन करने वाला वाक्य।
10. एक धर्म के कथन द्वारा विवक्षित धर्म का ही कथन करने वाला वाक्य।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–11 : भंग सात ही क्यों?

संरचना

11.0 प्रस्तावना
11.1 उद्देश्य
11.2 सप्तभंगी का अर्थ
11.3 भंग सात ही क्यों?
11.4 सप्तभंगों के विषय में विवाद
11.5 भंग सात से अधिक भी संभव है एक समीक्षा
11.6 अनन्तभंग की कल्पना एक समीक्षा
11.7 भंग सात से कम भी संभव है
11.8 सारांश
11.9 अभ्यास प्रश्नावली

11.0 प्रस्तावना

जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। उसके अनुसार प्रत्येक वस्तु परस्पर विरोधी अनेक गुण-धर्मों का पिण्ड है। वह सत् भी है असत् भी है, एक भी है अनेक भी है, नित्य भी है अनित्य भी है। इस प्रकार परस्पर विरोधी अनन्त धर्म वस्तु में निहित हैं। स्याद्वाद उस अनन्त धर्मात्मक वस्तु के प्रतिपादन करने का एक साधन या उपाय है। अनेकान्त और स्याद्वाद पर्यायवाची नहीं हैं। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक है। स्याद्वाद भाषा की वह निर्दोष प्रणाली है जो अनन्त धर्मात्मक वस्तु का सम्यक् प्रतिपादन करती है।

'स्याद्वाद' यह संयुक्त पद है जो 'स्यात्' और 'वाद' इन दो पदों के मेल से बनता है। 'वाद' का अर्थ है कथन या प्रतिपादन और 'स्यात्' शब्द कथंचित् (किसी अपेक्षा) के अर्थ में प्रयुक्त होता है। स्याद्वाद् विभिन्न दृष्टिकोणों से वस्तु का प्रतिपादन करता है तथा 'वस्तु एक ही धर्मरूप है' इस कथन का निषेध कर सब धर्मों को समान रूप से स्वीकार करता है। विशेषता केवल यही है कि जिस समय जिस धर्म के प्रतिपादन की विवक्षा होती है उस समय उस धर्म को मुख्य रूप से ग्रहण करके अन्य अविवक्षित धर्मों को गौण कर देता है। **आचार्य अमृतचन्द्र** ने एक सुन्दर दृष्टान्त द्वारा स्याद्वाद की प्रतिपादन शैली को बताते हुए लिखा है—

**"एकेनाकर्षयन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रामिव गोपी।।"**

अर्थात् जिस प्रकार दधिमन्थन करने वाली गोपी मथाने की रस्सी के एक छोर को खींचती है और दूसरे छोर को ढ़ीला कर देती है तथा रस्सी के आकर्षण और शिथिलीकरण के द्वारा दधि का मन्थन करके इष्ट तत्त्व घृत को प्राप्त कर लेती है, उसी प्रकार स्याद्वाद नीति भी एक धर्म के आकर्षण और शेष धर्मों के शिथिलीकरण द्वारा अनेकान्तात्मक अर्थ की सिद्धि करती है।

सप्तभंगी का अर्थ

अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद का विस्तृत रूप सप्तभंगी में दृष्टिगोचर होता है। अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर यह स्पष्ट है कि प्रत्येक पदार्थ विरोधी अनेक धर्म युगलों का पिण्ड है। वे वस्तु में एक साथ रह तो सकते हैं परन्तु इन्हें युगपत् व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसके युगपत् प्रतिपादन के लिए भाषा में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

क्रमिकता और सापेक्षता चाहिये। स्याद्वाद पद्धति द्वारा प्रत्येक धर्म का वर्णन उसके प्रतिपक्षी धर्म की अपेक्षा से आस्ति (विधि) नास्ति (निषेध) और अवक्तव्य आदि रूप से सात प्रकार से किया जाता है, क्योंकि प्रत्येक धर्म-युगल धर्मसप्तक लिये हुए हैं। वे सात धर्म सात वाक्यों द्वारा कहे जाते हैं। प्रत्येक धर्मों की सप्त प्रकारीय इस वर्णन शैली को सप्तभंगी कहते हैं। सप्तभंगी का लक्षण करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक में आचार्य अकलंक लिखते हैं—**'प्रशनवशादेकास्मिन् वस्तुनि अविरोधेन विधि प्रतिषेध कल्पना सप्तभंगी'** अर्थात् प्रश्नानुसार वस्तुगत किसी भी एक धर्म में विधि और निषेध की कल्पना करना सप्तभंगी है।

इस प्रकार अनेकान्तवादियों ने अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक-एक धर्म को अभिमुख करके विधि-निषेध की कल्पना के द्वारा सात प्रकार के भंगों की योजना की है। इन्हीं सात भंगों के समाहार को सप्तभंगी कहते हैं। सप्तभंगी का अर्थ है—सात वाक्यों का समूह। अर्थात् एक प्रश्न का सात तरह से उत्तर। किसी भी प्रश्न का उत्तर या तो हां में दिया जाता है या नहीं में। 'हां' और 'ना' के औचित्य को लेकर ही सप्तभंगीवाद की रचना हुई हैं। किसी भी पदार्थ के लिये अपेक्षा के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए सात प्रकार के वचनों का प्रयोग किया जाता है। वे इस प्रकार हैं—

1. **स्याद् अस्ति एव**—किसी अपेक्षा से है ही।
2. **स्याद् नास्ति एव**—किसी अपेक्षा से नहीं ही हैं।
3. **स्याद् अस्ति एव स्याद् नास्ति एव**—किसी अपेक्षा से है ही, किसी अपेक्षा से नहीं ही है।
4. **स्याद् अवक्तव्यमेव**—किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।
5. **स्याद् आस्ति स्याद् अवक्तव्यमेव**—किसी अपेक्षा से है ही और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।
6. **स्याद् नास्ति स्याद् अवक्तव्यमेव**—किसी अपेक्षा से नहीं ही है और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।
7. **स्याद् अस्ति एव, स्याद् नास्ति एव, स्याद् अवक्तव्यमेव**—किसी अपेक्षा से है ही, किसी अपेक्षा से नहीं ही है और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

11.1 उद्देश्य

सप्तभंगी के सम्बन्ध में एक व्यापक प्रश्न उठता है कि भंग सात ही क्यों होते हैं। न्यूनाधिक क्यों नहीं। विद्वानों के बीच में यह एक विमर्शनीय प्रश्न रहा है और इस प्रश्न का समाधान निम्न बिन्दुओं के आधार पर प्रस्तुत पाठ में किया गया है।

11.2 भंग सात ही क्यों?

भगवतीसूत्र जो जैन-परम्परा का प्राचीन आगम ग्रन्थ है उसमें वर्तमान सप्तभंगी का उत्स भी प्राप्त होता है। गौतम भगवान् महावीर से रत्नप्रभा पृथ्वी का स्वरूप पूछते हैं। भगवान् कहते हैं—**'रयणपहा पुढवी सिय आया सिय नो आया, सिय अवत्तव्वा'** रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् है, स्यात् नहीं है और स्यात् अवक्तव्य है। इस प्रकार गौतम पूछते जाते हैं। एक परमाणु के संदर्भ तक यही उत्तर प्राप्त होता है। वस्तु अपनी अस्तित्व की अपेक्षा से है, दूसरे के अस्तित्व की अपेक्षा से नहीं है। अस्तित्व-नास्तित्व का कथन एक साथ नहीं हो सकता अतः वह अवक्तव्य है। भगवती के अनुसार जो संख्या की दृष्टि से एक है उसके तीन ही भंग हो सकते हैं। तीन से अधिक नहीं हो सकते। द्विप्रदेशी स्कन्ध के बारे में पूछने पर उत्तर मिला कि उसके छः भंग हो सकते हैं, सात नहीं हो सकते। तीन तो परमाणु के संदर्भ जैसे हैं और तीन संयोगज भंग और हो जाते हैं। तीन प्रदेशी स्कन्ध के तेरह भंग हो जाते हैं। इसी प्रकार चार, पांच, छः प्रदेशी के संदर्भ में जिज्ञासा करने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पर उनका भी इसी प्रकार उत्तर उपलब्ध होता है। उनके भंगों की संख्या की भी वृद्धि होती चली जाती है। प्रश्न उपस्थित होता है कि जब भगवती में भंगों की संख्या सात से कम एवं सात से अधिक भी उपलब्ध है तब आज हम सप्तभंगी का ही उल्लेख क्यों करते हैं?

भगवती में सात से कम या अधिक भंगों का उल्लेख है, अतः सात से कम या अधिक भी भंग माने जा सकते हैं, ऐसी शंका करना अनुचित है क्योंकि मूल भंग सात ही हैं। उनकी संख्या बढ़ नहीं सकती। भगवती में जो अतिरिक्त भंग उपलब्ध हो रहे हैं, वे उन्हीं सात भंगों के उपभंग हैं। प्रदेशों के आधार पर उनको मिलाकर भंगों की संख्या का विकास दिखाया गया है। वस्तुतः मौलिक भंग सात ही हैं जिनका स्वरूप वर्तमान में हमें उपलब्ध है।

भंग सात ही क्यों होते हैं? कम या अधिक क्यों नहीं? सप्तभंगीतरंगिणी में इसका समाधान देते हुए लिखा—

"भङ्गास्सत्त्वादयस्सप्त संशयास्सप्त तद्गताः।
जिज्ञासास्सप्त सप्त स्युः प्रश्नास्सप्तोत्तराण्यपि।।"

अर्थात् किसी भी पदार्थ के विषय में सात प्रकार की जिज्ञासा होती है और सात प्रकार की जिज्ञासा का कारण है सात प्रकार के संशय तथा सात प्रकार के संशयों का कारण है उसके विषय रूप वस्तु के धर्मों का सात प्रकार से होना।

इस परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि सप्तभंगी के सात 'भंग' केवल शाब्दिक ही नहीं किन्तु वस्तु के धर्मविशेष पर आश्रित हैं। इसलिए सप्तभंगी का विचार करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके प्रत्येक भंग का स्वरूप वस्तु के धर्म के साथ सम्बद्ध हो। यदि किसी भी पदार्थ का कोई भी धर्म दिखलाया जाना जरूरी हो तो उसे इस प्रकार दिखलाया जाना चाहिए कि जिससे दूसरे धर्मों का स्थान उस वस्तु में से विलुप्त न हो जाए। जैसे कि हम घट में नित्यत्व का स्वरूप बतलाना चाहते हैं तो हमें घट के नित्यत्व का बोध कराने के लिए ऐसे उपयुक्त शब्द का प्रयोग करना चाहिये जो घट का नित्यत्व तो बताता ही हो किन्तु उसके अनित्यत्व आदि अन्य धर्मों का विरोध न करता हो। यह कार्य सप्तभंगी द्वारा ही हो सकता है। सप्तभंगी के लक्षण में **'प्राश्निक प्रश्नज्ञान प्रयोजत्वे सति'** यह जो विशेषण दिया गया है उसका मुख्य प्रयोजन यही है कि सप्तभंगी में जो सात भंगों का उत्थान हुआ है, उसका आधार प्रश्नकर्त्ता का प्रश्न है। प्रश्न सात प्रकार से ही संभव हो सकते हैं अतः भंग सात ही होते हैं। अब यह जिज्ञासा हो सकती है कि प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न सात प्रकार से ही क्यों संभव है? अधिक प्रकार से क्यों नहीं? इसका समाधान यह है कि प्रश्नकर्त्ता को जानने की इच्छा सात प्रकार से ही होती है। जैसे प्रश्नकर्त्ता यह जानना चाहता है कि जीव नित्य है या अनित्य? इन दो मोटी जिज्ञासाओं के आधार पर इनके दो भंग बन जाते हैं। उसी प्रकार यदि प्रश्नकर्त्ता कुछ विवेकी, बुद्धिमान है तो उन प्रश्नों का विस्तार अधिक से अधिक सात प्रकार से ही संभव हो सकता है, क्योंकि जिज्ञासा सात प्रकार से ही होती है। यहां यह प्रश्न फिर हो सकता है कि प्रश्नकर्त्ता के मन में जिज्ञासा सात प्रकार से ही क्यों होती है? इसके समाधान में कहा गया कि प्रश्नकर्त्ता को वस्तु के एक धर्म का परिचय करने के सम्बन्ध में संशय सात प्रकार से ही उत्पन्न हो सकता है। अब यहां कोई यह पूछे कि संशय भी सात प्रकार से क्यों होता है? तो इसका उत्तर है कि संशयों के विषयभूत धर्म भी सात प्रकार के होते हैं। ये धर्म वे ही हैं— पहला कथंचित् सत्त्व, दूसरा कथंचित् असत्त्व, तीसरा क्रम से योजित उभय अर्थात् सत्त्व एवं असत्त्व, चौथा अवक्तव्य, पांचवां कथंचित् सत्त्व सहित अवक्तव्य, छठा कथंचित् असत्त्व सहित अवक्तव्य और सातवां है क्रम से योजित उभय से विशिष्ट अवक्तव्य। इस प्रकार संशयों के विषयभूत धर्म सात प्रकार के होते हैं अतः संशय सात प्रकार से ही संभव है और जितने प्रकार से संशय संभव है,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उतनी ही जिज्ञासा होती है और उन जिज्ञासाओं के समाधान में जो सात वाक्य कहे जाते हैं, उन्हीं के समुदाय का नाम सप्तभंगी है।

भंग सात ही क्यों होते हैं? इसका एक समाधान यह भी है कि उक्त सात भंगों में प्रथम 'अस्ति' भंग, द्वितीय 'नास्ति' भंग और चतुर्थ 'अवक्तव्य' भंग ही मूल भंग है। शेष चार भंगों में तीसरा, पांचवां और छठा भंग द्विसंयोगी है तथा सातवां भंग त्रिसंयोगी है। गणिक के नियमानुसार (Law of combination) 'अस्ति', 'नास्ति' और 'अवक्तव्य' इन तीन भंगों से चार संयुक्त भंग बनकर सप्तभंगी ही बनती है। जैसे—नमक, मिर्च, खटाई इन तीनों अलग-अलग स्वादों के संयोग से चार और स्वाद उत्पन्न हो सकते हैं। द्विसंयोगी—नमक-मिर्च, नमक-खटाई, मिर्च-खटाई ये तीन स्वाद एवं त्रिसंयोगी नमक-मिर्च-खटाई का एक स्वाद। इस प्रकार अपुनरुक्त स्वाद सात ही उत्पन्न हो सकते हैं, उसी तरह 'अस्ति', 'नास्ति' एवं 'अवक्तव्य' के अपुनरूक्त भंग सात ही हो सकते हैं। तीनों के तीन स्वतन्त्र भंग, द्विसंयोगी—(अस्ति-नास्ति, अस्ति-अवक्तव्य, नास्ति-अवक्तव्य) के तीन भंग और त्रिसंयोगी (अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य) का एक भंग। इसलिए कहा गया है कि प्रत्येक धर्म युगल में सात ही भंग बन सकते हैं, हीनाधिक नहीं। ये सातों भंग वक्ता के अभिप्राय के अनुसार बनते हैं। वक्ता की विवक्षा के अनुसार एक ही वस्तु 'अस्तिरूप' भी कही जा सकती है और 'नास्तिरूप' भी कही जा सकती है तथा 'अस्ति-नास्ति' एक मिश्रित वचन भंग भी हो सकता है। इसी प्रकार अस्ति-नास्ति को युगपत् कहने की अपेक्षा से अवक्तव्य भी कहा जा सकता है तथा यह भी कहा जा सकता है कि 'किसी अपेक्षा से है भी' फिर भी अवक्तव्य है या यह भी कहा जा सकता है कि नहीं है फिर भी अवक्तव्य है। इन्हीं सात दृष्टियों के आधार पर सप्तभंगियां बनीं हैं। किसी ने पूछा, **'आप ज्ञानी हैं?'** इसके उत्तर में इस भाव से कि मैं कुछ न कुछ तो जानता ही हूँ। मैं कह सकता हूँ कि **'स्याद् ज्ञानी हूँ।'** चूंकि मुझे आगम का ज्ञान है, किन्तु गणित, विज्ञान आदि अन्य अनेक विषयों का ज्ञान नहीं है उस अपेक्षा से कहूं कि **'मैं स्याद् अज्ञानी हूँ।'** तो भी अनुचित नहीं होगा। कितनी ही बातों का ज्ञान है और कितनी ही बातों का ज्ञान नहीं है। अतः यदि मैं कहूँ कि **'मैं स्याद् ज्ञानी भी हूँ और नहीं भी'** तो भी असंगत नहीं होगा। यदि दोनों को युगपत् कहना हो तो अगर इस दुविधा के कारण मैं इतना ही कहूं कि मैं कह नहीं सकता कि "मैं ज्ञानी हूँ या नहीं" तो भी मेरा वचन असत्य नहीं होगा। इन्हीं आधारों पर सत्यता के साथ यह भी कह सकता हूँ कि **'मुझे कुछ ज्ञान है तो, फिर भी कह नहीं सकता कि आप जिस विषय को मुझसे जानना चाहते हैं उस विषय पर प्रकाश डाल सकता हूँ या नहीं।'** इसी बात को दूसरी तरह से कह सकता हूँ कि **'मैं ज्ञानी तो नहीं हूँ फिर भी संभव है आपकी बात पर कुछ प्रकाश डाल सकूं।'** अथवा इस प्रकार भी कह सकता हूँ कि **'मैं कुछ ज्ञानी भी हूँ, कुछ नहीं भी हूँ अतः कह नहीं सकता कि प्रकृत विषय का मुझे ज्ञान है या नहीं।'** ये समस्त वचन प्रणालियां अपनी-अपनी सार्थकता रखती हैं तथा पृथक्-पृथक् रूप से वस्तुस्थिति के एक अंश को ही प्रकट करती हैं, उसके पूर्ण स्वरूप को नहीं।

11.4 सप्तभंगों के विषय में विवाद

ब्रह्माद्वैतवादी एकमात्र ब्रह्म के अस्तित्व को ही स्वीकार करते हैं अतः उनके अनुसार विधि कल्पना ही सत्य है, प्रतिषेध कल्पना मिथ्या है। इसलिए **'स्यात् अस्ति एव'** यही सम्यक् वाक्य है। इसी प्रकार शून्यवादी बौद्ध, पदार्थ का केवल प्रतिषेध रूप स्वीकार करते हैं अतः उनके अनुसार **'स्यात् नास्ति एव'** यही सम्यक् वाक्य है। जैनदर्शन के अनुसार दोनों ही कथन नितान्त एकान्त है, क्योंकि पदार्थ को मात्र सत् स्वरूप मानने से सब पदार्थ सर्वात्मक हो जायेंगे अर्थात् सभी पदार्थ सभी रूप हो जायेंगे और पदार्थ को मात्र असत् रूप

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मानने से सभी पदार्थों के अभाव का ही प्रसंग आ जायेगा और इससे संसार शून्यरूप ही हो जायेगा। इसीलिए कहा गया—

'सर्वमास्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्याद् स्वरूपस्याऽप्यसंभवः।।'

अर्थात् प्रत्येक पदार्थ स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अस्तिरूप है, सत् रूप है और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से नास्ति रूप है, असत्‌रूप है। अतः पदार्थ को विधि-प्रतिषेध रूप (सत्-असत्‌रूप) मानना चाहिये।

न्याय-वैशेषिक मानते हैं कि सत् तथा असत् इन दो वर्गों में पदार्थों का वर्गीकरण हो जाता है। **'सदसत्वर्गास्तत्त्वम्'** अतः वैशेषिकों के अनुसार विधि-प्रतिषेध वाक्य ही सत् है। शेष अनुचित है। यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि जिस समय सत् का प्रधानरूप से कथन किया जाता है उस समय पदार्थ सत् रूप सिद्ध होता है और जिस समय असत् रूप सिद्ध किया जाता है, वह असत्‌रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार जब दोनों धर्मों का क्रमशः प्रधानरूप से कथन किया जाता है तब पदार्थ उभयात्मक सिद्ध होता है अतः तृतीय भंग मानना भी आवश्यक है और जिस समय दोनों धर्मों को युगपत् कहने की अपेक्षा हो उस समय वस्तु अवक्तव्य होती है अतः चतुर्थ भंग मानना भी उचित है एवं इनके संयोग से तीन भंग और बनते हैं इसलिए एक या दो ही भंग मानना उचित नहीं। सात भंग मानना ही समुचित है। सप्तभंगी से घटादि वस्तु समग्र भावाभावात्मक, सामान्यविशेषात्मक, नित्यानित्यात्मक और वाच्यावाच्यात्मक धर्मों का युगपत् कथन संभव है।

11.5 भंग सात से अधिक भी संभव है

'सप्तभंगीतरंगिणी' में पूर्व पक्ष की ओर से यह जिज्ञासा व्यक्त की गई है कि भंग सात ही क्यों? सात से अधिक भी संभव हो सकते हैं। जैसे—प्रथम भंग 'स्यात् अस्ति' और द्वितीय भंग 'स्यात्-नास्ति' को मिलाकर **'स्यात् अस्ति-नास्ति'** बनाया गया है उसी प्रकार प्रथम और तृतीय भंग का एक साथ उल्लेख करने पर **'स्यात् अस्ति स्यात् अस्ति-नास्ति'** यह एक नया भंग बनाया जा सकता है। इसी प्रकार चतुर्थ और तृतीय भंग को मिलाने पर **'स्यात् अवक्तव्य स्यात् अस्ति नास्ति'** इस नये भंग की भी संभावना हो सकती है। इसी तरह सातों भंगों में से एक-दूसरे के साथ दो-दो भंग जोड़ने से और भी अनेक नवीन भंग बन सकते हैं।

'सप्तभंगीतरंगिणी' में इसका समाधान करते हुए कहा गया कि इस प्रकार की जिज्ञासा करना ही अनुचित है क्योंकि प्रथम और तृतीय भंग को मिलाने से उत्पन्न नवीन भंग के अनुसार वाच्य पदार्थ की प्रतीति लोक में नहीं पाई जाती। इसी प्रकार सात भंगों के अतिरिक्त अन्य नवीन भंग की प्रतीति लोक विरुद्ध है। ऐसी स्थिति में सात से अधिक भंगों की उत्पत्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

11.6 अनन्त भंग की कल्पना

कुछ लोग यह भी तर्क प्रस्तुत करते हैं कि वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं, इसलिए अनन्त धर्मों की अपेक्षा से अनन्तभंगी भी हो सकती हैं।

यह बात ठीक है कि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है अतः अनन्त धर्मों के आधार पर अनन्त सप्तभंगियां बन सकती हैं, पर वस्तु के एक धर्म के आधार पर एक ही सप्तभंगी बन सकती है। भंगों की मर्यादा सात ही है।

'सप्तभंगीतरंगिणी' में यह शंका भी उठाई गई है कि भंग सात ही नहीं किन्तु नौ होते हैं। जैसे तीसरे भंग **'स्यादस्ति नास्ति'** के क्रम का परिवर्तन कर देने से **'स्यात् नास्ति-अस्ति'** रूप नया भंग बन जायेगा। इसी प्रकार सातवें भंग **'स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य'** में प्रदर्शित क्रम को पलट दिया जाये तो एक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नया भंग बन सकता है अतः भंगों की संख्या नौ हो सकती है। नये बने हुये भंगों में तीसरे और सातवें भंग की पुनरावृत्ति भी नहीं कही जा सकती क्योंकि अस्तित्व विशिष्ट नास्तित्व का बोध तृतीय भंग से होता है जबकि नवीन भंग से नास्तित्व विशिष्ट अस्तित्व का बोध होता है। विशेषण विशेष्य भाव की विपरीतता हो गई। जो विशेषण था वह विशेष्य बन गया और जो विशेष्य था वह विशेषण बन गया। यही बात सातवें भंग के सम्बन्ध में भी नूतन भंग के साथ है अर्थात् उसमें भी क्रम बदल गया है विशेषण विशेष्य भाव की विपरीतता आ गई है अतः भंग सात नहीं किन्तु नौ बनते हैं।

उपरोक्त शंका में केवल समझ का अन्तर है। तीसरे भंग में आये हुये अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्म स्वतन्त्र है। परस्पर सापेक्ष रूप से रहे हुए नहीं है। इसलिए दोनों की प्रधानता होने के कारण से ही पदार्थ में अवक्तव्यता धर्म की उत्पत्ति होती है, तद्नुसार विशेषण विशेष्य जैसी कोई स्थिति नहीं है किन्तु पर्यायों में भूतकालीन, भविष्यकालीन और वर्तमानकालीन दृष्टिकोण से ही अस्तित्व-नास्तित्व और अवक्तव्यत्व जैसे वाचक शब्दों की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि अस्तित्व-नास्तित्व, उभय से विलक्षण अन्य जातीय रूप से भी वस्तु का होना अनुभवसिद्ध है। जैसे दही, शक्कर, कालीमिर्च, इलायची नागकेशर तथा लवंग के संयोग से एक नवीन जाति का पेय रस तैयार हो जाता है जो कि प्रत्येक पदार्थ से स्वाद में, गुण में एवं स्वभाव में भिन्न बन जाता है, फिर भी उसे सर्वथा भिन्न नहीं कहा जा सकता और न ही सर्वथा अभिन्न कहा जा सकता है। इसी प्रकार सातों ही भंगों में परस्पर विलक्षण अर्थ की स्थिति समझ लेना चाहिये। अतः पृथक्-पृथक् स्वभाव वाले सातों धर्मों की सिद्धि होने से उन-उन धर्मों के विषयभूत संशय, जिज्ञासा आदि क्रमों की श्रेणियां भी सात-सात प्रकार की होती हैं। अतः प्रत्येक धर्म के विषय में सात-सात ही भंग होते हैं, अधिक नहीं।

11.7 भंग सात से कम भी संभव है

'सप्तभंगीतरंगिणी' में पूर्व पक्ष की ओर से यह भी जिज्ञासा की गई है कि माना कि सात से अधिक भंग नहीं हो सकते हैं किन्तु उससे कम तो हो सकते हैं? क्योंकि जो घट स्वरूप से सत् है वही अन्य पटादि रूप से असत् भी है। अतः **'स्यादस्ति एव तथा स्यात् नास्ति एव'** ये दो धर्म घटित नहीं हो सकते। इन दोनों का एक-दूसरे में समावेश हो जाता है अतः इन दो भंगों में से किसी एक ही भंग को मान लेने से काम चल जाता है। दो भंगों को अलग-अलग मानने की आवश्यकता नहीं है।

यह जिज्ञासा भी अनुचित है क्योंकि सत्त्व और असत्त्व दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। जो सत्त्व है वह असत्त्व नहीं हो सकता और जो असत्त्व है वह सत्त्व नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में दोनों को अलग-अलग ही मानना चाहिये। यदि इन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं माना जायेगा तो स्वरूप से सत्त्व ग्रहण की तरह पर रूप से भी असत्त्व ग्रहण का प्रसंग आ जायेगा। तथा बौद्ध जो त्रिरूप हेतु एवं नैयायिक पंचरूप हेतु मानते हैं वे भी सत्त्व और असत्त्व की अपेक्षा से ही मानते हैं अर्थात् हेतु का सपक्ष में पाया जाना यह सत्त्व की अपेक्षा से और विपक्ष में न पाया जाना यह असत्त्व की अपेक्षा से ही मानते हैं। इस प्रकार उन्होंने भी सत्त्व और असत्त्व को भिन्न-भिन्न माना है। यदि ऐसा न मानकर सत्त्व या असत्त्व में से किसी एक को ही मानते हैं तो त्रिरूप एवं पंचरूप हेतु की ही हानि हो जाती है अतः उनके सिद्धान्त से भी सत्त्व और असत्त्व का भेद ही सिद्ध होता है।

इस पर भी यदि यह तर्क दिया जाये कि सत्त्व और असत्त्व को भले ही अलग-अलग मानलें किन्तु सत्त्वासत्त्वरूप तीसरे भंग को अलग मानने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि जैसे घट और पट को अलग-अलग कहने पर या एक साथ उभयरूप से घट-पट कहने पर भी घट-पट का ही ज्ञान होता है, भिन्न ज्ञान नहीं होता है। अतः **'स्यादस्ति'** और **'स्यान्नास्ति'** मानने के बाद तीसरा भंग **'स्याद् अस्ति नास्ति'** मानना व्यर्थ है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपर्युक्त तर्क भी समीचीन प्रतीत नहीं होता क्योंकि प्रत्येक की अपेक्षा उभयरूप समुदाय का भेद अनुभवसिद्ध है। जैसे भिन्न 'घ' और 'ट' की अपेक्षा से समुदायरूप 'घट' इस पद को सब वादियों ने भिन्न ही माना है। यदि भिन्न नहीं माना जाये तो 'घ' इतना कहने मात्र से ही घट का बोध हो जाना चाहिये, पर होता नहीं है। अतः जिस प्रकार प्रत्येक पुष्प की अपेक्षा माला कथंचित् भिन्न है उसी प्रकार उभयरूप सत्त्व असत्त्व क्रमार्पित सत्त्व और असत्त्व की अपेक्षा से कथंचित् भिन्न ही है।

इस पर भी यदि कोई यह शंका करे कि क्रम से योजित सत्त्व-असत्त्व उभयरूप की अपेक्षा से सहयोजित सत्त्व असत्त्व इस उभयरूप का भेद कैसे सिद्ध हो सकता है?

11.8 सारांश

इसका समाधान यही है कि क्रम से योजित कल्पना सहयोजित कल्पना से भिन्न है, क्योंकि पूर्व कल्पना में पदार्थ की पर्यायें क्रम से कही जाती हैं, जबकि उत्तर कल्पना में पदार्थ की पर्यायें युगपत् कही जाती हैं। यदि दोनों में भेद नहीं माना जायेगा तो पुनरुक्ति दोष की सभावना होगी। यहां पर क्रम से योजित तृतीय भंग है और अक्रम से योजित चतुर्थ भंग है। तृतीय भंग के द्वारा उत्पन्न ज्ञान-विकल्प, अस्तित्व के साथ नास्तित्व रूप स्थिति को बतलाता है। अतः स्वतः सिद्ध है कि तृतीय और चतुर्थ भंग से उत्पन्न ज्ञानों में समान आकारता नहीं है। दोनों भंग अलग-अलग ही हैं। इस प्रकार जैन दार्शनिकों के अनुसार भंग सात ही हैं, हीनाधिक नहीं। स्याद्वाद जब अनेकान्त रूप वस्तु का कथन करता है तो सप्तभंगी के माध्यम से ही करता है। इसका आश्रय लिये बिना वह उसका निरूपण नहीं कर सकता।

11.9 प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. सप्तभंगीतरंगिणी के आधार पर स्पष्ट करें कि भंग सात ही क्यों होते हैं?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. सात से अधिक भंग कैसे संभव हो सकते हैं?
2. क्या वस्तु के अनन्त धर्मों के आधार पर अनन्त भंग बनाये जा सकते हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

01. जैन दर्शन के अनुसार वस्तु ...... है।
02. अनेकान्तवाद और स्याद्वाद में .... सम्बन्ध है।
03. प्रत्येक वस्तु स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से .... है।
04. ब्रह्माद्वैतवादी के अनुसार ..... भंग ही सत्य है।
05. न्याय-वैशेषिक के अनुसार .... वाक्य ही सत्य है।
06. सप्तभंगी में द्विसंयोगी भंग कितने हैं?
07. सप्तभंगी किसे कहते है।?
08. स्याद्वाद का क्या अर्थ है?
09. चौथा भंग कौनसा है?
10. सात भंगों में मूल भंग कितने हैं?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. अनन्त धर्मात्मक है। 2. वाच्यवाचक। 3. आस्ति रूप। 4. स्यात् आस्ति। 5. विधि-प्रतिषेध वाक्य 6. तीन 7. वस्तुगत किसी भी एक धर्म में विधि और निषेध की कल्पना करना सप्तभंगी है। 8. किसी अपेक्षा से कथन। 9. स्याद् अवक्तव्य। 10. आस्ति, नास्ति, अवक्तव्य।

सन्दर्भ ग्रन्थ—

सप्तभंगीतरंगिणी—विमलदासविरचित श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल, श्रीमद्राजचन्द्रआश्रम अगास (गुजरात)

आप्तमीमांसा—तत्त्वदीपिका व्याख्या, प्रो. उदयचन्द्र जैन, श्री दिगम्बर जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी

लेखिका—समणी शुभप्रज्ञा

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–4 : स्याद्वाद एवं अनेकान्तवाद

इकाई–12 : प्रमेय का स्वरूपत्व और पररूपत्व

संरचना

12.0 प्रस्तावना
12.1 उद्देश्य
12.2 वस्तु का स्वरूप और पररूप : अनेकान्त दृष्टि
12.3 वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता
12.4 वस्तु की अनेकान्तिकता
12.5 वस्तु का स्वरूप और पररूप: नयदृष्टि
12.6 वस्तु का स्वरूप पररूप:निक्षेप दृष्टि
12.7 सारांश
12.8 अभ्यास प्रश्नावली

12.0 प्रस्तावना

जैनदृष्टि में प्रमेय, पदार्थ या वस्तु किसे कहा जाता है? उसका स्वरूप और पररूप क्या है? कैसे भिन्न-भिन्न संदर्भों में वक्ता के अभिप्रायानुसार वस्तु की स्वरूप और पररूप सम्बन्धी अवधारणा परिवर्तित होती रहती है-इत्यादि तथ्यों का विश्लेषण प्रस्तुत पाठ में किया जा रहा है।

प्रमेय से तात्पर्य उस वस्तु से है जिसे हम जानना चाहते हैं। तत्वज्ञान की भाषा में प्रमेय के स्थान पर ज्ञेय शब्द का व्यवहार होता है। सामान्य बोलचाल में प्रमेय ही वस्तु या पदार्थ कहलाता है। वस्तु-स्वरूप विश्लेषण प्रत्येक दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है। निःश्रेयस् प्राप्ति तथा व्यवहार की सम्यक् योजना का आधार भी वस्तु-स्वरूप का यथार्थ निश्चय माना गया है–**'तत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः**। सभी दर्शनों में वस्तु-विश्लेषण की भिन्न-भिन्न दृष्टियां रही हैं। जैनदर्शन में वस्तु के स्वरूप पर दो दृष्टियों से विचार किया गया है। वह है वास्तविक तथा संदर्भ विशेष की दृष्टि। इन्हें न्यायशास्त्रीय भाषा में प्रमाण दृष्टि और नयदृष्टि अथवा अनेकान्तदृष्टि और अपेक्षादृष्टि कहा जा सकता है।

12.1 उद्देश्य

प्रमाण के द्वारा सिद्ध किये जाने वाले वस्तु तत्त्व जगत् को प्रमेय कहते हैं। प्रमेय एक दृष्टि से स्वरूप है और दूसरी दृष्टि से पर रूप है जो दूसरी से पररूप है वही स्वदृष्टि से स्वरूप है। प्रमाण का स्वरूपत्व पररूपत्व अनेकान्त की दृष्टि से होता है। इस विषय का गहन विवेचन किया गया है।

12.2 वस्तु का स्वरूप और पररूप : अनेकान्तदृष्टि

वस्तु के त्रैकालिक अथवा समग्र स्वरूप को केन्द्र में रखकर विश्लेषण करना अनेकान्तदृष्टि है। अनेकान्तदृष्टि के आधार पर वस्तु का क्या स्वरूप और पररूप है इसे डॉ. भिखारीराम यादव के निम्नांकित शब्दों में सुगमता से समझा जा सकता है।

जैनदर्शन एक वस्तुवादी (Realistic) एवं बहुतत्त्ववादी (Pluralistic) दर्शन है। वह तत्त्वों की अनेकता के साथ ही उनकी अनन्तधर्मता एवं अनेकान्तिकता में भी विश्वास करता है। उसके अनुसार न केवल विश्व में अनन्त सत्ताएं हैं अपितु प्रत्येक सत्ता अनन्त धर्म, अनन्त गुण और अनन्त पर्यायों (modes) से युक्त हैं इसीलिए वस्तु को अनन्तधर्मात्मक कहा गया है। मात्र इतना ही नहीं, प्रत्येक वस्तु में अनेक भावात्मक (Positive) एवं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अभावात्मक (Negative) धर्मों के साथ ही परस्पर विरोधी धर्मयुगल भी पाये जाते हैं। इसीलिए इसे अनेकान्तिक कहा गया है।

12.3 वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता

जैनदर्शन के अनुसार वस्तु अनेकान्त-स्वरूप है। अनेकान्त शब्द का आशय है अनेक अन्तों वाला (अनेक+अन्त)। अनेक का अर्थ है एक से अधिक और अन्त का अर्थ है गुणधर्म (Property)। इस प्रकार अनेकान्त का अर्थ हुआ वस्तु का एक से अधिक अर्थात् अनन्तधर्मात्मक होना-'अनन्तधर्मात्मकं वस्तु।'

वस्तु का स्वरूप विराट् है। वह अनन्त धर्मो, अनन्त गुणों और अनन्त पर्यायों का अखण्ड-पिण्ड है। उसमें अवस्थित उन अनन्त धर्मो में से समय-समय पर व्यक्ति अपने कथन के उद्देश्य से अपेक्षित धर्मो को ही ग्रहण करता है, जबकि उसमें उसके अतिरिक्त और भी अनेक धर्म विद्यमान हैं। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि व्यक्ति अपनी स्वेच्छा से उस वस्तु पर धर्म का आरोपण करता है। अपितु वस्तुएं संभवतः ही अनन्त धर्मात्मक होती हैं और यही कारण है कि वे अनन्तधर्मात्मक का फूल गंध की दृष्टि से सुगन्धित है, तो वर्ण की दृष्टि से किसी एक या एकाधिक विशिष्ट रंगों से युक्त है, स्पर्श की दृष्टि से उसकी पंखुड़ियां कोमल हैं, किन्तु डंठल तीक्ष्ण हैं, उसमें एक विशिष्ट स्वाद है, आदि-आदि। यह तो हुई वस्तु के भावात्मक धर्मो की बात, किन्तु उसके अभावात्मक धर्मो की संख्या तो उसके भावात्मक धर्मो की अपेक्षा कई गुना अधिक होगी, जैसे गुलाब का फूल, चमेली का फूल, मोगरे का फूल या पलास का फूल नहीं है। वह अपने से इतर सभी वस्तुओं से भिन्न हैं और उसमें उन सभी वस्तुओं के अनेकानेक धर्मो का अभाव भी है। पुनः यदि वस्तु की भूत एवं भावी तथा व्यक्त और अव्यक्त पर्यायों (संभावनाओं) पर विचार करें तो उसके गुण धर्मो की यह संख्या और भी अधिक बढ़कर निश्चित ही अनन्त तक पहुंच जायेगी। वस्तु के स्वरूप का निर्धारण उसके भावात्मक और अभावात्मक दोनों ही प्रकार के धर्मो के आधार पर होता है। वह क्या (Is) है और क्या-क्या (Is not) नहीं है-इन दोनों से मिलकर वस्तु अपना स्वरूप पाती हैं कुर्सी होने के लिए केवल इतना पर्याप्त नहीं है कि उसमें कुर्सी के गुणधर्म हैं अपितु उसकी मेज आदि से भिन्नता भी आवश्यक है। अतः यह कथन सत्य ही है कि वस्तुतत्त्व अनन्त धर्मो, अनन्त गुणों एवं अनन्त पर्यायों का पुंज है।

यद्यपि हमारी अनुभूति में वस्तुओं के कुछ ही गुणधर्मो का ग्रहण होता है किन्तु उसमें मात्र उतने ही गुणधर्म नहीं होते। वस्तु में तो ऐसे भी अनेक गुणधर्म हैं जिनका ज्ञान हमारी सामान्य अनुभूति से परे है। उन सबका ज्ञान केवल सर्वज्ञ (universal observer) को ही हो पाता है। आईस्टीन ने लिखा है कि-"We can know only relative truth but the real truth can be known only to the universal obsrver." वस्तुतः वस्तु नाना रूपवती सत्ता है। एक-एक कथन उस नाना रूपवती सत्ता के एक-एक अंश का प्रतिपादन करने में अपना महत्त्व रखता है। यह संभव है कि वस्तु सम्बन्धी दो भिन्न कथन परस्पर विरोधी प्रतीत हो; किन्तु फिर भी, उनमें आपस में किसी प्रकार का विरोध नहीं होता है क्योंकि दोनों ही कहे जाने वाले धर्म अपेक्षा भेद से उस वस्तु में विद्यमान हैं। स्वयंभूस्तोत्र में यह कहा गया है कि "विधि और निषेध दोनों कथंचित् इष्ट हैं विवक्षा से उनमें मुख्य-गौण की व्यवस्था होती है।"

विधिर्निषेधश्च कथञ्चिदिष्टौ।
विवक्षया मुख्य-गुण-व्यवस्था। -स्वयंभूस्तोत्र, का. 25

इसका आशय यही है कि विधि और निषेध, यद्यपि परस्पर विरोधी हैं किन्तु वस्तु के स्वरूप निर्धारण में दोनों की अपेक्षा है। इन दोनों में से किसी एक के अभाव में वस्तु का अपना स्वरूप नहीं बन सकता; अन्यथा वस्तु सर्वात्मक हो जायेगी। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कि कुर्सी को कुर्सी होने के लिए उसमें मेज के गुण-धर्मो का अभाव होना आवश्यक है। अतः अभावात्मक गुण-धर्म वस्तु के अस्तित्व के नियामक है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

12.4 वस्तु की अनेकान्तिकता

वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक होने के साथ-साथ अनेकान्तिक भी है। मानव बुद्धि जिन्हें परस्पर विरोधी गुणधर्म मान लेती है वे भी एक ही वस्तुतत्त्व में अपेक्षा भेद से एक साथ रहते हुए देखे जाते हैं।

कीदृशं वस्तु? नानाधर्मयुक्तं विविधस्वभावैः सहितं कथंचित्।
अस्तित्वनास्तित्वैकत्वानेकत्वनित्यत्वानित्यत्वभिन्नत्वाभिन्नत्वप्रमुखैराविष्टम्।
- **स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षाटीका, गा. 253**

उदाहरणार्थ हम प्रतिदिन यह व्यवहार में देखते हैं कि एक ही व्यक्ति पिता और पुत्र अथवा भाई और पति दोनों है फिर भी कोई विसंगति नहीं दिखाई देती। वस्तुतः जो व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र है वही व्यक्ति अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता भी है। इतना ही नहीं, एक ही आम्रफल में अम्लता के साथ मधुरता भी विद्यमान रहती है; क्योंकि यदि कच्चे आम्रफल में भी व्यक्त या अव्यक्त रूप से मधुरता का गुण न होता तो पकने पर वह मधुरता के गुण से युक्त नहीं हो पाता। अतः उसमें अपेक्षाभेद से अम्लता के साथ ही मधुरता भी विद्यमान रहती है। उसमें अन्तर सिर्फ इतना ही होता है कि उसके कच्चेपन में अम्लता की प्रधानता रहती है और पकने पर मधुरता की। यदि उसमें किसी एक भी गुण का पूर्णतः अभाव होता तो निश्चय ही कालान्तर में वह गुण व्यक्त होना किसी प्रकार संभव नहीं होता। परन्तु कालान्तर से वह गुण व्यक्त होता है और उसकी अनुभूति भी होती है। अतः उसमें अपेक्षा भेद से दोनों गुणों का रहना संभव है।

इसी प्रकार एक ही वस्तु में अनेक परस्पर विरोधी गुणधर्म अपेक्षाभेद से विद्यमान रहते हैं। जैन आचार्यो के अनुसार वस्तुएं अनेक धर्मात्मक होने के साथ ही परस्पर विरोधी धर्म युगलों से भी युक्त होती है। अतः वे सदसदात्मक, नित्यानित्यात्मक, भावाभावात्मक भी हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि सभी वस्तुएं अनेक धर्मात्मक होने के कारण अनेकान्त स्वभाव वाली होती हैं..............जो तदात्मक है वह अतदात्मक है, जो एकान्तात्मक है वह अनेकान्तात्मक है, जो सदात्मक है वह असदात्मक भी है-**"स तु सर्वमनेकांतात्मकमित्यनुशास्ति.............तत्र यदेव तत्तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं यदेवसत्तदेवासत यदेव नित्यं तदेवान्त्यिमित्येव वस्तु।''** (समयसार गा. 247 की टीका) अर्थात् नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व आदि परस्पर विरोधी धर्मयुगल एक ही वस्तु के दो पक्ष या पहलू हैं। वे एक ही वस्तु में सदा अपेक्षाभेद से विद्यमान रहते हैं। सर्वथा नित्यत्व और सर्वथा अनित्यत्व स्वरूप कोई वस्तु नहीं। नित्यता के बिना अनित्यता और अनित्यता के बिना नित्यता स्वरूप वाली कोई वस्तु नहीं। नित्यता और अनित्यता दोनों को एक दूसरे की अपेक्षा है। नित्यता के बिना अनित्यता और अनित्यता के बिना नित्यता और इसी प्रकार एकता के बिना अनेकता और अनेकता के बिना एकता का कोई अर्थ नहीं; वे परस्पर सापेक्ष हैं। डॉ. सागरमल जैन के शब्दों में अस्तित्व नास्तित्वपूर्वक है और नास्तित्व अस्तित्वपूर्वक है। एकता में अनेकता और अनेकता में एकता अनुस्यूत है, जो द्रव्य दृष्टि से नित्य है, वही पर्याय दृष्टि से अनित्य भी है। उत्पत्ति के बिना विनाश और विनाश के बिना उत्पत्ति नहीं है। पंचास्तिकाय में भी कहा गया है भाव अर्थात् सत्व का अत्यन्त नाश नहीं होता और अभाव अर्थात् असत्व का उत्पाद-व्यय नहीं होता है। विश्व में जितने सत् हैं वे त्रैकालिक सत् हैं। उनकी संख्या में कभी भी हेर-फेर नहीं होता। उनके गुण और पर्यायों में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। उसका कोई अपवाद नहीं हो सकता।

भावस्स णत्थि णत्थि अभावस्स चैव उप्पादो।
गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति।। -**पंचास्तिकाय, का. 15**

पुनः उत्पत्ति और विकास के लिए ध्रौव्यत्व भी अपेक्षित है अन्यथा उत्पत्ति और विनाश किसका होगा; यद्यपि ध्रौव्यत्व और उत्पत्ति-विनाश के धर्म परस्पर विरोधी हैं, किन्तु दोनों को सहवर्ती माने बिना विश्व की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

व्याख्या असंभव है। यही कारण है कि जैन आचार्यों ने वस्तु या सत्ता को परिणामी नित्य कहा है। उनका कहना है कि पदार्थ सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा अनित्य नहीं है किन्तु परिणामी नित्य है। परिणामी नित्य का अर्थ है-प्रतिसमय निमित्त के अनुसार नाना रूपों में परिवर्तित होते हुए भी अपने मूल स्वरूप का परित्याग न करना "तद् भावाव्ययं नित्यं।" प्रत्येक द्रव्य हर समय अपने निमित्तों के कारण अपने मूल स्वरूप का परित्याग किये बिना परिवर्तित होता रहता है अर्थात निमित्तानुसार अथवा स्वभावत: वह विभिन्न पर्यायों (अवस्थाओं) में बदलता रहता है। जैसे स्वर्णकार के कारण स्वर्ण का विभिन्न रूपों में परिवर्तन होता रहता है फिर भी स्वर्ण अपने स्वर्णत्व गुण को नहीं छोड़ता है। पर्यायों की यह परिवर्तनशीलता ही द्रव्य का परिणमन कहलाती है।

इसका तात्पर्य यही है कि प्रत्येक द्रव्य में नित्य-अनित्य दोनों ही धर्म विद्यमान हैं। एक ऐसा है जो तीनों कालों (भूत, भविष्य और वर्तमान) में शाश्वत है और दूसरा ऐसा है जो सदा परिवर्तनशील है। इसी शाश्वतता के गुण-धर्म के कारण प्रत्येक वस्तु ध्रौव्यात्मक अर्थात् स्थिर है और परिणमनशीलता के कारण प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्ययात्मक अर्थात् अस्थिर है। यही कारण है कि महावीर ने अपने युग में प्रचलित शाश्वतवादी और उच्छेदवादी आदि परस्पर विरोधी विचारधाराओं के मध्य समन्वय करते हुए, अनेकान्तिक दृष्टि से वस्तु-स्वरूप को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक कहकर परिभाषित किया। "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" (तत्त्वार्थसूत्र-5:29) वस्तुत: प्रत्येक वस्तु में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों गुण विद्यमान हैं। ध्रौव्य गुण नित्यता और उत्पाद एवं व्यय (उत्पत्ति और विनाश) अनित्यता के परिचायक हैं। यद्यपि उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यता के गुण एक दूसरे से भिन्न हैं फिर भी, वे एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं। यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का कोई अर्थ नहीं, कोई अस्तित्व नहीं। इसी प्रकार ध्रौव्य के बिना उत्पाद और व्यय भी असंभव है; क्योंकि उत्पाद और व्यय का आधार कोई वस्तुतत्त्व होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि तीनों उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को एक दूसरे की अपेक्षा है। अत: विश्व की व्यवस्था में तीनों का रहना आवश्यक है। यही कारण है कि द्रव्य-स्वरूप का लक्षण करते हुए सन्मति-तर्क में कहा गया है कि उत्पाद एवं नाश रूप पर्यायों से रहित द्रव्य अर्थात् ध्रुवांश और ध्रुवांश से रहित उत्पाद-व्ययरूप पर्याय नहीं होते, क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, ये तीनों संयुक्त रूप में ही वस्तु के लक्षण हैं।

जैन दार्शनिकों ने इन्हीं तीनों शक्तियों (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) को त्रिपदी पद से भी संबोधित किया है। भगवतीसूत्र में इस त्रिपदी का निर्देश करते हुए कहा गया है-'उप्पन्नेई वा विगमेई वा धुवेई वा।' जैन दर्शन के अनुसार यही त्रिपदी अनेकान्तवादी विचार पद्धति का आधार है। यह वस्तुतत्त्व के अनेकान्तिक स्वरूप की सूचक है। जिसका स्पष्टीकरण भगवतीसूत्र के विविध प्रसंगों में किया गया है। उदाहरणार्थ जब महावीर से गौतम ने यह पूछा कि भगवन्! जीव नित्य है या अनित्य? तब महावीर ने उत्तर देते हुए कहा कि गौतम! जीव अपेक्षाभेद से नित्य भी और अनित्य भी। पुन: गौतम ने पूछा भगवन्! यह कैसे? तब महावीर ने बताया कि गौतम! द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य है और पर्याय दृष्टि से अनित्य।

गोयमा! जीवा सिय सासया सिय असासया

गोयमा! दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया।।

इसी प्रकार एक अन्य प्रश्न के उत्तर में उन्होंने सोमिल से कहा था कि सोमिल द्रव्य से मैं एक हूं, किन्तु परिवर्तनशील चेतना की अवस्थाओं (पर्यायों) की अपेक्षा से मैं अनेक भी हूं।

इन सभी आनुभविक एवं शास्त्रीय साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वस्तुएं अनन्तधर्मात्मक एवं अनेकान्तिक है। परन्तु यहां कुछ आचार्यों का यह भी कहना है कि एक ही वस्तु तत्त्व में समस्त विरोधी धर्म युगलों का रहना संभव नहीं है; क्योंकि ऐसा होने पर एक ही चैतन्य स्वरूप आत्मा को चेतन-अचेतन दोनों ही मानना पड़ेगा। जबकि जो चेतन है उसे अचेतन और जो अचेतन है उसे चेतन नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कहा जा सकता। इसी प्रकार जो सुन्दर है उसे असुन्दर और जो असुन्दर है उसे सुन्दर नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः चैतन्य और अचैतन्य, सुन्दर और असुन्दर आदि विरोधी धर्म युगलों का एकाश्रयी सिद्ध करना कथमपि संभव नहीं है। धवला में भी कहा गया है कि यदि वस्तु में संपूर्ण धर्मो का एक साथ रहना मान लिया जाय तो परस्पर विरूद्ध चैतन्य-अचैतन्य, भव्यत्व-अभव्यत्व आदि धर्मो का एक साथ आत्मा में रहने का प्रसंग भी आ जायेगा। सत्य यह है कि जिन धर्मो का वस्तु तत्त्व में अत्यन्ताभाव अर्थात् जो कभी उस वस्तु में पाये ही नहीं जाते उन धर्मो का उसमें उपस्थित रहना कथमपि संभव नहीं है।

समाधान यह है कि वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता का यह अर्थ नहीं है कि उसमें जो न पाये जायें वैसे धर्मो को भी दिखलाकर अनन्तता प्रमाणित की जाए अपितु जो पाये जाते हैं वे भी संख्या में अनन्त या अनेक हैं। अतः उपर्युक्त परस्पर विरोधी धर्मयुगल वस्तु में नहीं हैं तो भी इससे वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता का हनन नहीं होता। वस्तुएं तो अनन्त धर्मात्मक हैं ही। उसमें नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व, अस्तित्व-नास्तित्व, भेदत्व-अभेदत्व आदि अनेक विरोधी धर्म-युगलों का रहना भी संभव है। उसमें यदि किन्हीं धर्मयुगलों का रहना संभव नहीं है तो वे हैं उसकी सत्ता के निर्धारक भावात्मक धर्मयुगल। पर उसका निषेधात्मक धर्मयुगल तो है ही। वस्तुतः जब जैन आचार्य अचैतन्य धर्म को आत्मा में घटाते हैं तब उनके उस कथन का प्रतिपाद्य यही होता है कि आत्मा में 'अचैतन्यता का अभाव' रूप धर्म है। उनके इस कथन से भी तो आत्मा की चेतनता की ही पुष्टि होती है। वस्तुतः उसकी अनेकान्तता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आचार्य हेमचन्द्र अन्ययोगव्यवच्देदिका में वस्तु के अनेकान्तिक स्वरूप की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं कि विश्व की समस्त वस्तुएं स्याद्वाद की मुद्रा से युक्त हैं कोई भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता।

अतः वस्तुएं अनेकान्तिक एवं अनन्त धर्मात्मक हैं। यद्यपि यह ठीक है कि वस्तुओं का यह अनेकान्तिक और अनन्तधर्मात्मक स्वरूप व्यक्ति को असमंजस में डाल देता है किन्तु जब वस्तु का स्वरूप ही कुछ इस तरह का है तो इसके लिए कोई कर ही क्या सकता है? बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति का भी यही कहना है "यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते के वयं?" अतः वस्तुएं अनन्त धर्मात्मक हैं। वस्तु के इसी अनेकान्तात्मक स्वरूप का प्रतिपादन अनेकान्तवाद करता है।

12.5 वस्तु का स्वरूप और पररूप : नयदृष्टि

अभी हमने अनेकान्तदृष्टि के आधार पर जैनदर्शन सम्मत वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जाना। उपर्युक्त विवेचन से यह भलीभांति स्पष्ट हो चुका है कि वस्तु अनेक विरोधी (Contradictary but complimentary) और अविरोधी (Single) गुणधर्मो की समन्विति है। वस्तु का प्रतिपादन भाषा के माध्यम से होता है। भाषागत सीमा से भी हम सभी अपरिचित नहीं है। शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है किन्तु केवल शब्द अर्थ का निश्चायक नहीं है। ज्ञाता अथवा वक्ता के अभिप्राय को जाने बिना शब्द किस अर्थ या पदार्थ की ओर संकेत कर रहा है यह निश्चित नहीं होता। अतः शब्द के अर्थ को जानने के लिए ज्ञाता के अभिप्राय पर ध्यान देना जरूरी है। सिद्धसेन दिवाकर ने उपर्युक्त तथ्य को 'सन्मतिप्रकरण' में इन शब्दों में व्यक्त किया है-

सुत्तं अत्थनिमेणं न सुत्तमेत्तेण अत्थपडिवत्ति।
अत्थगई उण णयवायगहणलीणा दुरभिगम्मा।।

शब्द ही ज्ञाता के अभिप्राय का अनुगमन नहीं करता अपितु ज्ञाता का अभिप्राय भी शब्द के सामर्थ्य का अनुगमन करता है। इसका तात्पर्य है ज्ञाता एक शब्द के माध्यम से किसी एक गुण (धर्म), वस्तु अथवा तथ्य की ओर ही संकेत कर सकता है। एक से अधिक वस्तुओं, गुणों अथवा तथ्यों की ओर संकेत करने के लिए अन्यान्य शब्दों का प्रयोग करना आवश्यक है। अनेकार्थवाची शब्द भी एक समय में किसी एक ही

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वस्तु, गुण अथवा तथ्य को सूचित करता है। ऐसी स्थिति में अभिव्यक्त अर्थ से भिन्न अर्थ को कहने के लिए उस शब्द का पुनरूच्चारण आवश्यक है। उदाहरणार्थ-सैन्धव लाओ। इस वाक्य में वक्ता का अभिप्राय जिस समय 'नमक' से है तो उस समय सिन्धुदेश का अश्व अर्थ नहीं निकाला जा सकता। यद्यपि 'सैन्धव' शब्द नमक के साथ सिन्धु देश के घोड़े, व्यक्ति अथवा वस्तु के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार 'अश्व' अर्थ में प्रयोग करने पर नमक अर्थ नहीं निकाला जा सकता है। यही कारण है कि अनेकान्तवाद, स्याद्वाद अथवा नयवाद के माध्यम से ही व्यक्त होता है। कभी-भी अनन्त धर्मात्मक वस्तु एकसाथ भाषा में व्यक्त नहीं होती है। अतः शब्दान्वित वस्तु सापेक्ष ही होगी न कि निरपेक्ष। किसी सन्दर्भ-विशेष अथवा प्रयोजन विशेष से ही उसका निर्वचन संभव है, पूर्णरूप में नहीं। फलस्वरूप कोई कथन संदर्भ विशेष में ही सत्य होगा। अन्य संदर्भ में उसकी असत्यता का निषेध नहीं निकाला जा सकता है। दूरस्थित कैमरा किसी वस्तु को छोटा दिखलायेगा वही कैमरा समीप होने पर आकृति को बड़े रूप में प्रस्तुत करेगा। अतः क्षेत्रीय सामीप्य होने पर जैसा चित्रांकन होता है वैसा क्षेत्रीय दूरी होने पर संभव नहीं है। प्रस्तुत पाठ में स्वरूप-पररूप चर्चा का आधार भी यही है कि एक तथ्य संदर्भविशेष में वस्तु का स्वरूप है और वही तथ्य अन्य संदर्भो में पररूप बन जाता है।

वस्तु स्वरूप विश्लेषण के प्रसंग में हमने जाना कि वस्तु भावात्मक (Positive अथवा Have) और अभावात्मक (Negative अथवा Have not) दोनों है। वस्तुतः भाव और अभाव इन दोनों के होने पर ही वस्तु का निश्चित स्वरूप ज्ञात होता है। कोई भी वस्तु, असीम विश्वव्यापी नहीं है। उसका अस्तित्व एक निश्चित सीमा में आबद्ध है। ऐसा न हो तो सर्वत्र अव्यवस्था और असामंजस्य की स्थिति बन जाएगी। पानी का निर्माण हाइड्रोजन के दो परमाणु और ऑक्सीजन के एक परमाणु का योग होने पर ही होता है यह सुनिश्चित है। पानी निर्माण की प्रक्रिया में हाइड्रोजन और ऑक्सीजन होना ही चाहिए, अन्य गैस नहीं होनी चाहिए। जब तक ऐसा विधि-निषेध न हो तब तक पानी बनने की क्रिया संपादित नहीं हो सकती है। इसे दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि पानी का सूत्र H_2O तभी निश्चित हो सका जबकि पानी के अणु का विघटन करने पर उसमें हाईड्रोजन के दो परमाणु और आक्सीजन का एक परमाणु ही प्राप्त हुआ। उनके अतिरिक्त अन्य किसी गैसीय परमाणु का उसमें अभाव पाया गया । हर वस्तु का विधेयात्मक और निषेधात्मक पक्ष होता है। दोनों पक्षों की समुचित अध्ययन और स्वीकृति से ही सम्बद्ध वस्तु का पूर्ण आकलन करना होता है। प्राचीन आचार्यो ने इस तथ्य को निम्नोक्त श्लोक में व्यक्त करते हुए कहा है कि-

अयमेवेति यो एष भावे भवति निर्णयः
नैष वस्त्वन्तराभावसंवित्यनुगमादृते।।

पदार्थ के बारे में 'यह अमुक ही है' ऐसा निर्णय उससे भिन्न वस्तुओं का अभाव जाने बिना संभव नहीं है। दूध दूध ही है दही इत्यादि नहीं है यह निश्चय दूध के गुणों की उपलब्धि व दूध भिन्न अन्य पदार्थो के गुणों की अनुपलब्धि के आधार पर ही होता है। इसी प्रकार अमुक पदार्थ चेतन है यह निश्चित करने के लिए यह जानना होगा कि प्राण, इन्द्रिय, इच्छा, सुख, दुःख की संवेदना और जनने की शक्ति है या नहीं है। यदि ये सभी सामान्य लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं तो अमुक प्राणी (living being) है ऐसा निश्चय किया जा सकता है। इस प्रकार किसी भी पदार्थ का स्वरूप निर्धारण उसमें उपलब्ध और अनुपलब्ध धर्मो के आधार पर किया जाता है। वस्तु में जो कुछ पाया जाता है वह न्यायशास्त्रीय भाषा में स्वरूप कहा जाता है।

लकड़ी की निर्मित मेज में लकड़ी, आकारविशेष, रंगविशेष विशिष्ट उपयोगिता आदि पाये जाने वाले द्रव्य तथा धर्म स्वरूप कहे जाते हैं। विद्यमान द्रव्यों तथा धर्मो के अलावा जो धर्म अथवा द्रव्य उसमें विद्यमान नहीं है वे पररूप कहे जाते हैं। उदाहरण के लिए मनुष्य में मनुष्यत्व पाया जाता है किन्तु पशुत्व नहीं पाया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जाता अतः मनुष्यता स्वरूप है तथा पशुता पररूप है! भाषा में अभिव्यक्त होने वाला वस्तुस्वरूप ज्ञाता अथवा वक्ता के अभिप्राय पर आधारित होता है। ऐसी स्थिति में एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न ज्ञाता की अपेक्षा से स्वरूप भी हो सकती है और पररूप भी। उदाहरण के लिए काष्ठनिर्मित कुर्सी के अभिप्राय से किसी ने पूछा कि कुर्सी है? उत्तर मिला-है। कुर्सी समक्ष रखने पर वह काष्ठनिर्मित नहीं अपितु प्लास्टिक निर्मित थी। ग्रहणकर्ता ने उसे स्वीकार नहीं किया क्योंकि अभिप्राय से वह कुर्सी पररूप है, स्वरूप नहीं। स्वरूप तब होती जब वह काष्ठनिर्मित होती। यहां ग्रहणकर्ता के अभिप्राय में कुर्सी का स्वरूप काष्ठ है और पररूप प्लास्टिक है। प्लास्टिक की कुर्सी चाहने वाले के लिए प्लास्टिक स्वरूप है और काष्ठ पररूप है। कुर्सी कुर्सी ही है तथापि अर्थ ही उसका स्वरूप बनेगा जो इष्ट नहीं है वह पररूप होगा।

स्वरूप और पररूप की मीमांसा अनेक आधारों पर की जा सकती है जैसे-स्वभाव, नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, आकृति, काल, इन्द्रियज्ञान, शब्द, वर्तमान, क्रिया, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इत्यादि। इन संदर्भों में वस्तु अथवा प्रमेय का स्वरूप-पररूप क्या है? इसे हम कुछ व्यावहारिक और दार्शनिक उदाहरणों के माध्यम से समझेंगे।

स्वभाव अथवा सत्ताविशेष (Special kind of existance) के आधार पर स्वरूप और पररूप के प्रसंग में हम पायेंगे कि जीव, अजीव इत्यादि नाम वस्तु में पायी जाने वाली सत्ता विशेष के आधार पर किया जाता है। अतः वह सत्ताधर्म उस वस्तु का स्वरूप होगा और उससे भिन्न धर्म पररूप होंगे। उदाहरण के लिए किसी प्राणी को मनुष्य कहा जाता है। वह मनुष्य है मनुष्यताधर्म के कारण। मनुष्यता यह स्वरूप है तथा पशुता, देवत्व इत्यादि पररूप हैं। अमुक मनुष्य है इसका निश्चय केवल मनुष्यता की प्राप्ति के साथ-साथ पशु व देवरूप की अनुपलब्धि के आधार पर होता है।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप में से किसी एक निक्षेप का अवलम्बन करके कही गयी वस्तु का स्वरूप उसी निक्षेप के अन्तर्गत आने वाली वस्तु होगी। उससे भिन्न निक्षेप की वस्तु पररूप होगी। उदाहरण के लिए किसी ने महावीर नामधारी किसी व्यक्ति के उपस्थित होने का आदेश दिया। महावीर नाम का व्यक्ति उपस्थित होता है तो यह नामनिक्षेप के अनुसार स्वरूप हुआ। किन्तु उस नाम के व्यक्ति के स्थान पर यदि महावीर का चित्र अथवा मूर्ति उपस्थित की जाती है तो यह नामनिक्षेप की दृष्टि से पररूप होगा। इसी प्रकार पूजा के प्रसंग में स्थापना महावीर के अभिप्राय से कहा जाय कि महावीर को लाओ। वहां महावीर के प्रसंग में भगवान् का गृहस्थ जीवन अभिप्रेत है। बाल्यावस्था में क्रीड़ा करते हुए कोई उन्हें महावीर कहता है तो द्रव्यनिक्षेप कि दृष्टि से बालक महावीर स्वरूप है तथा नाम और स्थापना और भाव महावीर पररूप है। भाव महावीर का तात्पर्य वास्तविक महावीर से है। वर्तमान में जैन धर्मदर्शन के प्रतिष्ठापक महावीर हैं-इस कथन में कैवल्य को प्राप्त कर चुके भगवान् महावीर स्वरूप हैं तथा नाम, स्थापना व द्रव्य महावीर पररूप हैं। भाव निक्षेप के अन्तर्गत जिसका उल्लेख किया जाता है वह वस्तु वास्तविक अर्थ में उन गुणों से युक्त होनी चाहिए। यदि नामनिक्षेप के अन्तर्गत आने वाली वस्तु को अन्य निक्षेपों की दृष्टि से भी स्वरूप मान लिया जाय तो नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप की उपयोगिता समाप्त हो जाती है। इनका मूल्य तभी है जबकि एक निक्षेप के अन्तर्गत कही जाने वाली वस्तु दूसरे निक्षेप की दृष्टि से कुछ भिन्न अर्थ देती है।

आकृति (संस्थान) भी वस्तुओं में पार्थक्य पैदा करती है। समानजातीय पदार्थों में आकृति के आधार पर भेद करके किसी वस्तु विशेष को पहचाना जाता है। उदाहरण के लिए जापानी, अफ्रीकी और भारतीय मनुष्यों में मनुष्यगत साम्यता होने पर भी आकृति गत भेद के आधार पर जाना जा सकता है कि अमुक जापानी है अथवा अफ्रीकन है अथवा भारतीय है। इसी प्रकार वस्तुओं में भी आकृति विशेष के आधार पर निर्णय किया जाता है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति वृत्ताकार मेज चाहता है तो उसके अभिप्राय में मेज का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वृत्ताकार स्वरूप है तथा मेज की अन्य त्रिकोण, चतुष्कोण आकृतियां पररूप है। यदि आकृतिगत भेद को स्वीकार नहीं किया जाय तो भिन्न-भिन्न आकृतियों में ऐक्य का प्रसंग उपस्थित होता है। इसके विपरीत यदि आकृति विशेष को स्वरूप न माना जाय तो वस्तु का कोई आकार ही सिद्ध नहीं होगा।

काल के आधार पर भी स्वरूप-पररूप निर्णय किया जाता है। कपड़ा-निर्माण प्रक्रिया में रूई का कातना, धागे का बुनना, ताना-बाना इत्यादि कपड़े की पूर्ववर्ती अवस्थाएं हैं। कपड़ा निर्मित होने पर उससे विशेष प्रकार की पोशाक का निर्माण उत्तरवर्ती अवस्था है। किसी कपड़े के व्यापारी के पास कोई ग्राहक कपड़ा लेने के लिए आता है। उस समय उसका अभिप्राय पूर्ववर्ती अथवा पश्चात्वर्ती कपड़ा न होकर निर्मित कपड़े से है। निर्माण क्रिया के प्रारम्भ से लेकर निष्पन्न-अवस्था तक कपड़ा अथवा निर्मित पोशाक को देना चाहें ग्राहक पररूप समझकर अस्वीकार कर देता है क्योंकि उसे केवल कपड़ा ही चाहिए। इसी प्रकार पुराने चावल अथवा गुड़ चाहने वाले व्यक्ति की दृष्टि में नये चावल अथवा गुड़ पररूप होंगे। इस प्रकार काल की अपेक्षा से भी स्वरूप-पररूप का निश्चय करके यथेष्ट वस्तु का ग्रहण और निषेध होता है। यदि कालगत भेद न माना जाय तो प्राचीन-नवीन, निर्माणाधीन-निर्मित, भूत-वर्तमान-भविष्य, पूर्ववर्ती-पश्चात्वर्ती, बड़ा-छोटा इत्यादि वस्तुगत मापदण्ड समाप्त हो जाएंगे जो कि व्यवहार-संचालन में अपनी अहं भूमिका निभाते हैं। दूसरी ओर कालविशेष में वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार न किया जाय तो उसका अर्थक्रियाकारित्व ही घटित नहीं होता फलत: उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। यदि वर्तमान में निर्मित कपड़े को कपड़ा (स्वरूप) नहीं स्वीकार किया जाय तो कपड़े के रूप में उसका उपयोग संभव नहीं। फलत: वह कपड़ा होते हुए भी कपड़ा (स्वरूप) नहीं स्वीकार किया जाय तो कपड़े के रूप में उसका उपयोग संभव नहीं। फलत: वह कपड़ा होते हुए भी कपड़ा कहलाने के योग्य नहीं है। अत: क्रियाकाल में वस्तु को सत् मानना भी वस्तुसत्य को स्वीकार करना है।

वर्तमान क्षण में स्थित द्रव्य स्वरूप है और अतीत तथा भविष्य में होने वाली द्रव्य की स्थिति पररूप है। परमाणु वर्तमान क्षण में काले रंग का है-यह उसका स्वरूप हुआ किन्तु एक क्षण पूर्व वह नीले रंग का था तथा एक क्षण पश्चात् वह सफेद रंग का है-यह उसका स्वरूप हुआ किन्तु एक क्षण पूर्व वह नीले रंग का था तथा एक क्षण पश्चात् वह सफेद रंग का होगा-यह पररूप है। व्यक्ति अपने पूर्वजीवन में ईमानदार और सज्जन था किन्तु वर्तमान में वह विपरीत स्थिति में है अर्थात् घोटाला करता है अथवा आतंक फैलता है। ऐसी स्थिति में न्यायाधीश पूर्वजीवन के आधार पर उसे किसी प्रकर का दण्ड नहीं देगा ऐसा नहीं होता अपितु वर्तमान के आधार पर उसे अप्रामाणिक अथवा आतंकवादी घोषित करेगा और कानून के अनुसार उचित सजा भी देगा। यदि अतीत के जीवन से वर्तमान जीवन को पृथक न स्वीकार करें तो व्यक्ति सज्जन ही होगा। ऐसी स्थिति में दण्ड-व्यवस्था निरर्थक सिद्ध होगी। अत: वर्तमान भी निश्चित-स्वरूप का निर्णायक बनता है।

इन्द्रियज्ञान के आधार पर भी स्वरूप-पररूप का निश्चय किया जाता है। जो पदार्थ आंखों से देखकर जाना जाता है उसके होने पर चक्षुर्ज्ञान के आधार पर वह पदार्थ है ऐसा स्वीकार किया जाता है। आंखों से ज्ञात होने वाली वस्तु में भी केवल उसके रूप का ही ग्रहण होता, रस इत्यादि का नहीं। क्योंकि चक्षु का विषय (Subject) रूप (रंग तथा आकार) है। अत: चक्षुर्ज्ञान के संदर्भ में रूप ज्ञेय-वस्तु का स्वरूप होगा तथा रस इत्यादि पररूप होंगे। रूप की तरह रस को भी स्वरूप मान लेने पर चक्षु के द्वारा ही रस के ग्रहण का प्रसंग आयेगा। फलत: अन्य रसनेन्द्रिय इत्यादि की कोई उपयोगिता नहीं रहेगी। एक इन्द्रिय से ही सभी विषयों को जानना संभव होगा जो कि अनुभव विरुद्ध है। इससे विपरीत रस की तरह रूप को भी चक्षुग्राह्य न माना जाये तो रूपी पदार्थो का ज्ञान ही संभव नहीं होगा। फिर आम हरा है या पीला है। शीशा गोल है या चौकोर है-इत्यादि ज्ञानों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शब्द विशेष के आधार पर भी वस्तु के बारे में निर्णय लिया जाता है। समभिरुढ़ नय के अन्तर्गत प्रयोग किया जानेवाला प्रत्येक शब्द किसी विशेष अर्थ का सूचक होता है। वही अर्थ विवक्षित वस्तु का स्वरूप होता है। उदाहरणार्थ-'मकान' शब्द का प्रयोग करने पर अनेक कक्ष वाले, ईंट पत्थर से निर्मित स्थान विशेष का ज्ञान होगा क्योंकि 'मकान' शब्द इसी स्वरूप की ओर संकेत करता है तथा झोपड़ी, प्रासाद आदि पररूप होंगे। 'घट' शब्द प्रयुक्त होने पर गोल और बड़े आकार वाले मृत्तिका निर्मित घट नामक पदार्थ का ज्ञान होगा। अतः घट शब्द का प्रयोग करने पर घट स्वरूप होगा तथा सुराही पररूप। इसी प्रकार सुराही के प्रसंग में घट पररूप व सुराही स्वरूप होगी।

वर्तमान क्रिया के आधार पर भी शब्द विशेष का प्रयोग किया जाता है। पढ़ाते समय कोई व्यक्ति शिक्षक कहलाता है। जल लाते समय कोई महिला पनिहारिन कहलाती है। किन्तु जिस समय उपर्युक्त क्रिया नहीं की जा रही है उस समय शिक्षक अथवा पनिहारिन शब्द का प्रयोग एवंभूत नय की अपेक्षा से नहीं किया जाता है। ऐसी स्थिति में 'पनिहारिन' कहने के प्रसंग में जल लाने वाली स्त्री स्वरूप होगी तथा वैसा न करने वाली पररूप होगी। शिक्षक के प्रसंग में पढ़ाने की क्रिया में संलग्न व्यक्ति स्वरूप होगा तथा स्वयं पढ़ने वाला अथवा अन्य क्रिया में दत्तचित्त व्यक्ति पररूप होगा।

इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर भी स्वरूप-पररूप का निर्धारण किया जाता है। कौनसा पदार्थ किस द्रव्य से बना है? इसका विचार द्रव्य विचार के अन्तर्गत किया जाता है। उदाहरण के लिए स्वर्ण का आभूषण सामने रखा है। स्वर्ण इस आभूषण का मूलद्रव्य होने से स्वरूप है तथा चांदी इत्यादि पररूप है। चांदी निर्मित आभूषण के प्रसंग में चांदी स्वरूप, स्वर्ण इत्यादि पररूप होंगे, क्षेत्र-दृष्टि से टोहाना की मिर्च का कथन करने पर मिर्च का क्षेत्रीय दृष्टि से टोहाना स्वरूप होगा तथा तदितर क्षेत्र होंगे। काल का विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। भावदृष्टि के अन्तर्गत अवस्थाविशेष (पर्याय) पर विचार किया जाता है। काले रंग का रूमाल कहने पर काला रंग स्वरूप होगा। अन्य रंग पररूप होंगे। त्रिकोण पत्थर कहने पर त्रिकोण स्वरूप तथा चतुष्कोण पत्थर पररूप होगा। सुगन्धित फूल कहने पर सुगन्ध स्वरूप तथा दुर्गन्धयुक्त फूल पररूप होगा। कोमल शय्या पररूप होगी। मारूति गाड़ी कहने पर मारूति स्वरूप होगा तथा सुमो, कमाण्डर इत्यादि पररूप होगी।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव दृष्टि से वस्तु-स्वरूप का निश्चय भी अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। द्रव्यदृष्टि के आधार पर कारण-कार्य का स्वरूप निश्चित होता है। दूध ही दही का मूलद्रव्य है-यह ज्ञात होने पर दही का कारण दूध ही है अन्य नहीं है इसे सुनिश्चित किया जाता है। दृश्यमान् जगत् के मूल में जीव और अजीव ये दो द्रव्य हैं। ऐसा निश्चित होने पर सम्पूर्ण विश्व जीव, अजीव की विविध परिणति है यह निर्णीत होता है। वृक्ष के मूल में बीज है अतः बीज कारण है और वृक्ष उसका कार्य है। इसके विपरीत द्रव्य का निर्णय न होने पर कौनसा किससे उत्पन्न या निर्मित होता है यह कहना कठिन होता है। क्षेत्र-निर्णय भी इसी प्रकार आवश्यक है। कहां किस प्रकार की पैदावार होती है या वस्तुएं पाई जाती है इसका ठीक-ठीक ज्ञान होने पर ही आयात-निर्यात, पर्यटन, व्यापारिक सम्बन्ध इत्यादि व्यावहारिक गतिविधियां संचालित होती हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हैं-यह ज्ञात होने पर ही जीव और पुंद्गल की गति और स्थिति की क्षेत्रसीमा निर्धारित होती है। आकाश क्षेत्रीय विस्तार की अनन्तता के कारणही व्यापक द्रव्य कहा जाता है। वस्तु-विषयक लघु, मध्यम और विराट परिमाण का आधार भी उसके द्वारा घेरा जाने वाला स्थान ही होता है। इस प्रकार क्षेत्र भी वस्तु-स्वरूप निर्धारण का मुख्य घटक है।

काल भी वस्तु को प्रभावित करता है। अतीत, वर्तमान और भविष्य में वस्तु को एकरूप मान लेने पर वह नित्य हो जाएगी तथा किसी भी काल में स्वीकार न करने पर उसके अस्तित्व का ही अभाव हो जाएगा। प्रत्येक द्रव्य और पर्याय का किसी न किसी काल से सम्बन्ध है और इसीलिए उनकी वास्तविकता को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्वीकार किया जाता है। पानी की तरल, ठोस व गैसीय अवस्था भिन्न-भिन्न काल में बनती है और उस-उस काल में उनके अस्तित्व को मान्य किया जाता है तथा अनेक प्रकार के प्रयोजन या कार्य निष्पन्न होते हैं। अतः काल भी वस्तु के अस्तित्व को मान्य किया जाता है तथा अनेक प्रकार के प्रयोजन या कार्य निष्पन्न होते हैं। अतः काल भी वस्तु के अस्तित्व को प्रभावित करता है।

भाव भी वस्तु-निर्णय में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। भारत की सुरक्षा के प्रसंग में भारतीयों को ही प्रशिक्षण दिया जायेगा, पाकिस्तानी को नहीं। यद्यपि आकृति से दोनों ही मनुष्य हैं। लस्सी बनाना है तो दही की आवश्यकता होगी न कि दूध की। यद्यपि दूध ही दही बनता है। भोजन करना है तो गेहूं नहीं परोसे जाएंगे किन्तु उससे निर्मित चपाती इत्यादि ही रखी जाएगी। यद्यपि गेहूं से ही चपाती बनती है। पूजा के प्रसंग में ईश्वर की अथवा देवता की पूजा की जाएगी, किसी मनुष्य की नहीं। यद्यपि दोनों ही आत्मद्रव्य हैं। इस प्रकार द्रव्य एक होने पर भी भिन्न-भिन्न दशाओं में उसके प्रति मूल्यांकन की दृष्टि बदलती रहती है।

12.7 सारांश

स्वरूप-पररूप विषयक जैनदृष्टि का अध्ययन करने से जैन चिन्तन की व्यापकता का ही बोध नहीं होता अपितु जैनदर्शन की मौलिकता और वस्तु-विश्लेषण की पद्धति (Methodology) का भी ज्ञान होता है। विश्लेषण की इस पद्धति में सत्य (Reality) के संदर्भ में जितने प्रकार के कथन किये जाते हैं उनकी सत्यता संदर्भविशेष में प्रमाणित की जा सकती ह। अनेक व्यावहारिक, सामाजिक, वैज्ञानिक और दार्शनिक समस्याओं का विश्लेषण और समाधान प्राप्त किया जा सकता है।

12.8 प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. वस्तु-स्वरूप का परिचय देते हुए उसके स्वरूप और पररूप का विविध संदर्भो में सोदाहरण विवेचन करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. वस्तु अनेकधर्मात्मक होने के साथ-साथ अनेकान्तिक है-इस कथन को स्पष्ट करें।
2. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर वस्तु के स्वरूप और पररूप को सोदाहरण स्पष्ट करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

किन्हीं पांच रिक्त स्थानों की पूर्ति करें-

1. वस्तुएं अनेक धर्मात्मक होने के साथ ही परस्पर..........से भी युक्त होती है।
3. अस्तित्व............है और नास्तित्व ....है।
4. सभी पदार्थ अपने..............उत्पाद-व्यय करते रहते हैं।
5. जैनाचार्यो ने वस्तु या सत्ता को ....कहा है।
6. विश्व में जितने सत् हैं वे ....सत् हैं।

एक शब्द में उत्तर-

7. परिणामी नित्य से आप क्या समझते हैं?
8. वस्तु में पाये जाने वाले विरोधी धर्मो को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करें।
9. द्रव्य का परिणमन किसे कहते हैं?
10. क्या उत्पाद व्यय और ध्रुवता परस्पर निरपेक्ष रहकर अपना अस्तित्व बनाये रख सकते हैं। यदि नहीं तो क्यों?
11. नित्यता और अनित्यता के परिचायक गुण कौन से हैं?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–13 : स्याद्वाद एवं अनेकान्तवाद का उद्भव और विकास

संरचना

13.0 प्रस्तावना
13.1 उद्देश्य
13.2 अनेकान्तवाद की प्राचीनता और उसका क्षेत्र
13.3 अनेकान्तवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
13.4 अनेकान्तवाद का उद्भव
13.5 आगमयुग में अनेकान्तवाद
13.6 अनेकान्त-स्थापना युग अथवा दर्शनयुग में अनेकान्तवाद।
13.7 प्रमाण-व्यवस्था युग में अनेकान्तवाद
13.8 नव्यन्याय युग में अनेकान्तवाद
13.9 आधुनिक युग में अनेकान्तवाद
13.10 सारांश
13.11 अभ्यास प्रश्नावली

13.0 प्रस्तावना

कोई भी विशिष्ट दर्शन हो या धर्म, उसकी अपनी कोई आधारभूत दृष्टि अवश्य होती है और वह दृष्टि उस धर्म दर्शन के प्रवर्तक द्वारा प्रदत्त होती है। जैसे; शंकराचार्य की अपने मत निरूपण में 'अद्वैत दृष्टि' और भगवान् बुद्ध की अपने धर्म दर्शन प्रवर्तन में 'मध्यम-प्रतिपदा की दृष्टि' मूलाधार रही है। जैनदर्शन भारतीय दर्शनों में एक विशिष्ट दर्शन है और साथ ही एक विशिष्ट धर्म भी है, इसलिए उसके प्रवर्तक और संपोषक मुख्य पुरुषों की एक विशेष दृष्टि उसके मूल में होनी ही चाहिए और वह है भी। यही दृष्टि 'अनेकान्तवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। जैन तात्त्विक-चिन्तन तथा आचार-निर्णय का आधार अनेकान्त-दृष्टि है। दूसरे शब्दों में, अनेक प्रकार के विचारों तथा आचारों में जैन विचार और जैनाचार क्या हैं? कैसे हो सकते हैं? इन्हें निश्चित करने व कसने की एकमात्र कसौटी अनेकान्त दृष्टि है। स्याद्वाद अनेकान्त का ही भाषाई प्रयोग है। अत: स्याद्वाद को अनेकान्तवाद से भिन्न सिद्धान्त नहीं समझना चाहिये।

13.1 उद्देश्य

एक ही तात्पर्य के बोधक दो शब्द हैं अनेकान्तवाद और स्याद्वाद। अनेकान्त जिस उद्देश्य की समझ (Understanding) पैदा करता है स्याद्वाद उसी तत्व की अभिव्यक्ति (Expression) में सहायक है। यह जैन दर्शन में तत्व तथा ज्ञान की मीमांसा करने में बराबर सहायक है।

13.2 अनेकान्तवाद की प्राचीनता और उसका श्रेय

वर्तमान जैनधर्म और दर्शन के प्रतिपादक भगवान् महावीर हैं। अत: पं. सुखलालजी के अनुसार जैनधर्म-दर्शन की आधारभूत अनेकान्त दृष्टि भी भगवान् महावीर के द्वारा सर्वप्रथम स्थिर या उद्भावित की गई—यह माना जा सकता है। परन्तु उनका यह भी कहना है कि विचार के विकासक्रम और पुरातन इतिहास का अवलोकन करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अनेकान्त दृष्टि का मूल भगवान् महावीर से भी पुराना है। भगवान् महावीर से पूर्ववर्ती वैदिक-साहित्य में और उसके समकालीन बौद्ध-साहित्य में अनेकान्त-दृष्टिगर्भित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बिखरे हुए विचार थोड़े बहुत मिल ही जाते हैं। इसके अलावा भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती भगवान् पार्श्वनाथ हुए हैं जिनका विचार आज यद्यपि उन्हीं के शब्दों में—मूलरूप में उपलब्ध नहीं है फिर भी उन्होंने अनेकान्तदृष्टि का स्वरूप स्थिर करने में अथवा उसके विकास में कुछ-न-कुछ भाग अवश्य लिया है, ऐसा ज्ञात होता है।यह सब होते हुए भी उपलब्ध साहित्य का इतिहास स्पष्टरूप से यही कहता है कि 2500 वर्ष के भारतीय साहित्य में अनेकान्त दृष्टि का जो थोड़ा-बहुत प्रभाव है या विशेष रूप से जैन-वाङ्मय में अनेकान्त दृष्टि का उत्थान होकर क्रमशः विकास होता गया है और जिसे दूसरे समकालीन दार्शनिक विद्वानों ने अपने-अपने ग्रन्थों में किसी-न-किसी रूप में अपनाया है उसका मुख्य श्रेय तो भगवान् महावीर को ही है; क्योंकि हम देखते हैं कि वर्तमान में उपलब्ध प्राचीन जैन ग्रन्थों में अनेकान्त दृष्टि की विचारधारा जिस स्पष्टता के साथ प्रवाहित हुई है उस स्पष्टता के साथ और किसी प्राचीन ग्रन्थ में प्रवाहित नहीं दिखाई देती है।

नालंदा के प्रसिद्ध बौद्ध विद्यापीठ के आचार्य शान्तरक्षित अपने 'तत्त्वसंग्रह' ग्रन्थ में अनेकान्तवाद का परीक्षण करते हुए कहते हैं कि विप्र-मीमांसक, निर्ग्रन्थ-जैन और कापिल-सांख्य इन तीनों का अनेकान्तवाद समान रूप से खण्डित हो जाता है। इस कथन से यह पाया जाता है कि सातवीं-आठवीं सदी के बौद्ध आदि विद्वान् अनेकान्तवाद को केवल जैनदर्शन का ही सिद्धान्त नहीं मानते थे अपितु मीमांसक, सांख्य और योगदर्शन का भी स्वीकार करते थे। मीमांसा दर्शन के श्लोकवार्तिक और सांख्य-योगदर्शन के परिणामवाद से सम्बन्धित प्राचीन ग्रन्थों से यह निःसन्देह प्रमाणित होता है कि उन ग्रन्थों में भी जैन ग्रन्थों की तरह अनेकान्त दृष्टिमूलक विचारणा है फिर भी पं. सुखलालजी का इस विषय में कहना है कि यद्यपि अनेकान्त दृष्टि मीमांसक और सांख्य-योगदर्शन में भी है तथापि वह जैनदर्शन के ग्रन्थों की तरह अति स्पष्ट रूप और अति व्यापक रूप में उन दर्शनों के ग्रन्थों में नहीं पाई जाती है। जैन विचारकों ने जितना प्रयत्न और चिन्तन अनेकान्तदृष्टि के निरूपण में किया है, उसका शतांश भी किसी दर्शन के विद्वानों ने नहीं किया है। यही कारण है कि आज जब कोई 'अनेकान्तवाद' या 'स्याद्वाद' शब्द का उच्चारण करता है तब सुनने वाला विद्वान् उससे सहसा जैनदर्शन को ही समझता है। इस समझ का कारण है कि जैन विद्वानों ने अनेकान्तवाद (स्याद्वाद)के निरूपण और समर्थन में बहुत बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे हैं।इस विषय में अनेक युक्तियों का आविर्भाव किया है और अनेकान्तवाद के बल पर ही दूसरे दार्शनिक विद्वानों को वाद-चर्चा में परास्त किया है।

निष्कर्ष के रूप में उपर्युक्त चर्चा से दो तथ्य उद्घाटित होते हैं—प्रथम, यह कि भगवान् महावीर ने अपने उपदेशों में अनेकान्तवाद का जैसा स्पष्ट आश्रय लिया तथा प्रयोग किया है वैसा उनके समकालीन और पूर्ववर्ती दर्शन प्रवर्तकों में से किसी ने भी नहीं किया है। द्वितीय, यह कि भगवान् महावीर के अनुयायी जैन आचार्यों ने अनेकान्तदृष्टि के प्रतिपादन, समर्थन और विकास में जितनी शक्ति लगाई है उतनी और किसी भी दर्शन के अनुगामी आचार्यों ने नहीं लगाई।

13.3 अनेकान्तवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्राचीन तत्त्व व्यवस्था में भगवान् महावीर ने क्या नया अर्पण किया, इसे जानने के लिए वर्तमान में आगम साहित्य से बढ़कर कोई साधन नहीं है। दलसुखभाई मालवणिया के मन्तव्यानुसार आगम-वर्णित तत्त्व विचार का मूल भगवान् महावीर के समय से भी पुराना है। अर्थात् भगवान् महावीर का तत्त्व चिन्तन भगवान् पार्श्वनाथ के तत्त्वचिन्तन से भिन्न नहीं है। पार्श्वनाथ सम्मत आचार में तो भगवान् महावीर ने कुछ परिवर्तन अवश्य किया है जिसके साक्ष्य प्रश्नव्याकरण उत्तराध्ययन जैसे आगम हैं, किन्तु तत्कालीन दार्शनिक क्षेत्र में तत्त्व के स्वरूप के विषय में जो नये-नये प्रश्न उठते रहते थे, उनका जिस प्रकार का स्पष्टीकरण भगवान् महावीर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ने तत्कालीन अन्य दार्शनिकों के विचारों के प्रकाश में किया है वह अपने आप में अनूठा है। उसे दार्शनिक क्षेत्र को उनकी विशिष्ट देन कहा जा सकता है। जीव का जन्म-मरण होता है, यह बात नई नहीं थी। परमाणु के नाना कार्य बाह्य जगत् में होते हैं और नष्ट होते हैं, यह भी स्वीकृत था। किन्तु जीव और परमाणु का कैसा स्वरूप माना जाए, जिससे उन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के घटित होते रहने पर भी जीव और परमाणु का उन अवस्थाओं के साथ सम्बन्ध बना रहे। यह और ऐसे अन्य प्रश्न तत्कालीन दार्शनिकों के द्वारा उठाए गए थे और उन्होंने अपना-अपना स्पष्टीकरण भी किया था। इन नये प्रश्नों का भगवान् महावीर ने जिस त्रैकालिक पद्धति से समाधान प्रस्तुत किया वही दर्शन के क्षेत्र में उनकी देन है जिसे उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने विकसित किया है।

भगवान् महावीर की तत्त्व प्रतिपादन की विशिष्टता जो अनेकान्तवाद के रूप में दर्शन के क्षेत्र में उभरी वह आगम प्रमाण से भी पुष्ट होती है। भगवतीसूत्र में कैवल्य प्राप्ति के पूर्व होने वाले भगवान् महावीर के दस महास्वप्नों की चर्चा की गई हैं। उनमें तीसरा स्वप्न इस प्रकार था—

"एगं च महं चित्त-विचित्त-पक्खगं पुंसकोइलगं सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे"—अर्थात् एक बड़े चित्र-विचित्र पंखवाले पुंस्कोकिल को स्वप्न में देखकर वे प्रतिबुद्ध हुए। इस महास्वप्न का फल बताते हुए कहा गया है कि—

"समणे भगवं महावीरे विचित्तं ससमयपरसमयइयं दुवालसंगं गणिपिडगं आघवेति पन्नवेति परूवेति ..... " अर्थात् उस स्वप्न का फल यह है कि भगवान् महावीर विचित्र ऐसे स्व-पर सिद्धान्त को बताने वाले द्वादशांग का उपदेश देंगे।

प्रस्तुत में चित्र-विचित्र शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं। पुंस्कोकिल (एक पक्षी विशेष) के पंख को चित्र-विचित्र कहने का और आगमों को विचित्र विशेषण देने का तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि भगवान् महावीर का उपदेश अनेकरंगी-अनेकान्तवाद माना गया है। दलसुखभाई मालवणियाजी का कहना है कि—"भगवान् के दर्शन की विशेषता और प्रस्तुत चित्र-विचित्र विशेषण का कुछ मेल बिठाया जाए, तब यही संभावना की जा सकती है कि वह विशेषण साभिप्राय है और उससे सूत्रकार ने भगवान् के उपदेश की विशेषता अर्थात् अनेकान्तवाद को ध्वनित किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।"

अनेकान्तवाद आगमिक युग में विभज्यवाद तथा स्याद्वाद के रूप में प्रचलित रहा है। सूत्रकृतांग में भिक्षु कैसी भाषा का प्रयोग करे, इस प्रश्न के प्रसंग में कहा गया है कि—विभज्यवाद का प्रयोग करना चाहिए—"भिक्खू विभज्जवायं च वियागरेज्जा।" भगवान् बुद्ध ने भी विभज्यवाद का उपदेश दिया। बौद्ध मज्झिम-निकाय में शुभमाणवक के प्रश्नों के उत्तर में भगवान् बुद्ध ने कहा कि—"हे माणवक! मैं यहां विभज्यवादी हूं, एकांशवादी नहीं।" उसका प्रश्न था कि मैंने सुन रखा है कि गृहस्थ ही आराधक होता है, प्रव्रजित आराधक नहीं होता। इसमें आपकी क्या संमति है? इस प्रश्न के उत्तर में बुद्ध ने कहा—गृहस्थ भी यदि मिथ्यात्वी है तो निर्वाण मार्ग का आराधक नहीं और त्यागी भी यदि मिथ्यात्वी है तो वह भी आराधक नहीं किन्तु यदि वे दोनों सम्यक् प्रतिपत्ति सम्पन्न हैं, तभी आराधक होते हैं।

प्रस्तुत समाधान में बुद्ध ने त्यागी या गृहस्थ की आराधकता और अनाराधकता में जो अपेक्षा या कारण था, उसे बताकर दोनों को आराधक और अनाराधक बताया है अर्थात् प्रश्न का उत्तर एकांशवाद के आधार पर हां या ना में न देकर विभाग करके दिया है। यहां यह मननीय है कि भगवान् बुद्ध सर्वदा सभी प्रश्नों के उत्तर में विभज्यवादी नहीं थे किन्तु जिन प्रश्नों का उत्तर विभज्यवाद से ही संभव था, उन कुछ ही प्रश्नों के उत्तर देते समय वे विभज्यवाद का अवलम्बन लेते थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपर्युक्त बौद्ध चर्चा से एकांशवाद और विभज्यवाद का परस्पर विरोध स्पष्ट सूचित हो जाता है। जैन टीकाकार विभज्यवाद का अर्थ स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्तवाद करते हैं। एकान्तवाद और अनेकान्तवाद का भी परस्पर विरोध स्पष्ट ही है। ऐसी स्थिति में सूत्रकृतांग में उल्लिखित विभज्यवाद का अर्थ अनेकान्तवाद, नयवाद, अपेक्षावाद या पृथक्करण करके, विभाजन करके किसी तत्त्व का विवेचन करने वाला सिद्धान्त कहना अधिक युक्तियुक्त है। अपेक्षाभेद से 'स्यात्' शब्द युक्त प्रयोग आगम में देखे जाते हैं—'सिय रयणप्पभा पुढवी अत्थि' इत्यादि। एकाधिक भंगों का स्याद्वाद भी आगम में मिलता है। अतएव आगमकालीन अनेकान्तवाद या विभज्यवाद को स्याद्वाद भी कहा जा सकता है।

भगवान् बुद्ध का विभज्यवाद कुछ मर्यादित क्षेत्र में था और भगवान् महावीर के विभज्यवाद का क्षेत्र व्यापक था। यही कारण है कि जैनदर्शन आगे चलकर अनेकान्तवाद में परिणत हो गया और बौद्धदर्शन किसी अंश में विभज्यवादी होते हुए भी एकान्तवाद की ओर अग्रसर हुआ।

13.4 अनेकान्तवाद का उद्भव

भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तवाद के मूल में तत्कालीन दार्शनिकों में से भगवान् बुद्ध के निषेधात्मक दृष्टिकोण का महत्त्वपूर्ण स्थान है—ऐसा दलसुखभाई मालवणिया का विचार है। उनके मत में भगवान् बुद्ध ने तत्कालीन विविध मतवादों से अलिप्त रहने के लिए जो रूख अंगीकार किया था उसी में अनेकान्तवाद का बीज है। जिन प्रश्नों को बुद्ध ने अव्याकृत बताया। भगवान् महावीर ने उन्हीं प्रश्नों को अनेकान्तवाद के आश्रय से सुलझाया है। उन प्रश्नों के स्पष्टीकरण में से जो दृष्टि उनको प्राप्त हुई, उसी का सार्वत्रिक विस्तार करके उन्होंने अनेकान्तवाद को सर्ववस्तु-व्यापी बना दिया जो बाद के आचार्यों के द्वारा एकमत से स्वीकृत हुआ।

आदीपमाव्योमसमस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमैवेकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः॥

वस्तुतः भगवान् बुद्ध के समय में मुख्यतः तीन प्रश्न थे—

1. लोक की नित्यता अनित्यता और सान्तता-निरन्तरता का प्रश्न। 2. जीव-शरीर के भेदाभेद का प्रश्न।
3. तथागत(बुद्ध) की मरण के पश्चात् होने वाली स्थिति-अस्थिति अर्थात् जीव की नित्यता-अनित्यता का प्रश्न।

इन्हीं के विषय में भगवान् बुद्ध ने अपना मत देते हुए भी वस्तुतः विधायक रूप से कुछ नहीं कहा। यदि वे लोक या जीव को नित्य कहते तो उनको उपनिषद मान्य शाश्वतवाद को स्वीकार करना पड़ता और यदि वे अनित्य पक्ष को स्वीकार करते तब चार्वाक जैसे भौतिकवादी द्वारा सम्मत उच्छेदवाद को स्वीकार करना पड़ता। इतना तो स्पष्ट है कि उनको शाश्वतवाद में भी दोष प्रतीत हुआ था और उच्छेदवाद को भी वे अच्छा नहीं समझते थे। इतना होते हुए भी उन्होंने अपने नये वाद को कुछ नाम नहीं दिया। इतना ही कहकर रह गए कि ये दोनों वाद ठीक नहीं। अतएव ऐसे प्रश्नों को अव्याकृत, स्थापित, प्रतिक्षिप्त बता दिया। इस प्रकार उन्होंने अनेकान्तवाद का रास्ता साफ कर दिया। भगवान् महावीर ने तत्कालीन सिद्धान्तों के दोष और गुण दोनों की ओर दृष्टिपात किया। दोनों पर समान भाव से दृष्टि देने पर अनेकान्तवाद स्वतः फलित हो जाता है। भगवान् महावीर ने तत्कालीन मान्यताओं के गुण-दोषों की परीक्षा करके जितनी जिस वाद में सच्चाई थी, उसे उतनी ही मात्रा में स्वीकार करके सभी वादों का समन्वय करने का प्रयत्न किया। यही भगवान् महावीर का अनेकान्तवाद या विकसित विभज्यवाद है। भगवान् बुद्ध जिन प्रश्नों का उत्तर विधिरूप से देना नहीं चाहते थे, उन सभी प्रश्नों का उत्तर देने में अनेकान्तवाद का आश्रय करके भगवान् महावीर समर्थ हुए। उन्होंने प्रत्येक वाद के पीछे रही हुई दृष्टि को समझने का प्रयत्न किया, प्रत्येक वाद की मर्यादा क्या है, अमुक वाद

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

की उत्पत्ति में मूलतः क्या आवश्यकता होनी चाहिए। इस बात की खोज को और नयवाद के रूप में उस खोज के दार्शनिकों के सामने रखा। यही नयवाद अनेकान्तवाद का मूलाधार बन गया।

13.5 आगम–युग में अनेकान्तवाद

जैनागमों के संदर्भ में अनेकान्तवाद के स्वरूप को समझने के लिए उन्हीं प्रश्नों को आधार बनाया जा सकता है जिनको भगवान् बुद्ध ने अव्याकृत बताया है। ऐसा करने से यह स्पष्ट होगा कि जहां बुद्ध किसी एक वाद में पड़ जाने के भय से निषेधात्मक उत्तर देते हैं वहां भगवान् महावीर अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर किस प्रकार विधिरूप उत्तर देकर अपना अपूर्व मार्ग प्रस्थापित करते हैं—

सर्वप्रथम लोक की नित्यानित्यता तथा सान्त–अनन्तता के बारे में प्रश्न उपस्थित होते हैं। इन प्रश्नों के विषय में भगवान् महावीर का स्पष्टीकरण भगवती में स्कन्दक परिव्राजक के अधिकार में उपलब्ध है। उस अधिकार से और अन्य अधिकारों से यह सुविदित है कि भगवान् ने अपने अनुयायियों को लोक के सम्बन्ध में होने वाले इन प्रश्नों के विषय में अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया था, जो अपूर्व था। उस मन्तव्य का सार यह है कि विश्व द्रव्य की अपेक्षा से सान्त है क्योंकि यह संख्या में एक है। किन्तु भाव अर्थात् पर्यायों की अपेक्षा से विश्व अनन्त है क्योंकि पर्याय अनन्त है। काल की दृष्टि से विश्व अनन्त है। अर्थात् शाश्वत है, क्योंकि ऐसा कोई काल नहीं जिसमें विश्व का अस्तित्व न हो। किन्तु क्षेत्र की दृष्टि से विश्व सान्त है क्योंकि सम्पूर्ण आकाश के कुछ ही भाग में विश्व व्याप्त है अन्यत्र नहीं।

एवं खलु मए खंदया! चउव्विहे लोए पण्णत्ते, तं जहा दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ।

दव्वओ णं एगे सअंते।

खेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयाम विक्खंभेणं असंखेज्जाओ जोयणकोडीकोडीओ परिक्खेवेणं पन्नता, अत्थि पुण सअंते।

कालओ णं लोए न कयावि न आसी, ... णत्थि पुण से अंते।

भावओ णं लोए अणंता वण्णपज्जवा ...... नत्थि पुण से अंते।

उपर्युक्त उद्धरण में मुख्यतः सान्त और अनन्त शब्दों को लेकर अनेकान्तवाद की स्थापना की गई है। भगवान् बुद्ध ने लोक की सान्तता और अनन्तता दोनों को अव्याकृत कोटि में रखा। तब महावीर ने लोक को सान्त और अनन्त अपेक्षाभेद से बताया है।

लोक की शाश्वतता–अशाश्वतता के विषय में भी जहां बुद्ध ने अव्याकृत कहा वहां भगवान् महावीर का अनेकान्तवादी मन्तव्य क्या है, उसे उन्हीं के शब्दों में देखें—

"सासए लोए जमाली, जन्न कयावि णासी, णो कयावि ण भवति, ण कयावि ण भविस्सइ भुविं च, भवइ य, भविस्सइ य, धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे।"

"असासए लोए जमाली, जओ ओसप्पिणी भवित्ता उस्सप्पिणी भवइ, उस्सप्पिणी भवित्ता ओसप्पिणी भवइ।"

अर्थात् जमाली! लोक शाश्वत है और अशाश्वत भी। त्रिकाल में ऐसा एक भी समय नहीं, जब लोक किसी न किसी रूप में न हों, अतएव वह शाश्वत है। किन्तु वह अशाश्वत भी है, क्योंकि लोक हमेशा एक रूप तो रहता नहीं। उसमें अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालखण्डों के कारण अवनति और उन्नति भी देखी जाती है। जो सर्वथा (absolutely) शाश्वत होता है उसमें परिवर्तन नहीं होता। अतएव उसे अशाश्वत भी मानना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दूसरा प्रश्न जीव और शरीर के भेदाभेद के विषय में है। भगवान् बुद्ध ने इसे भी अव्याकृत बताया किन्तु महावीर ने इसका समाधान प्रस्तुत किया। उन्होंने गौतम के प्रश्न के उत्तर में आत्मा को शरीर से अभिन्न भी कहा है और उससे भिन्न भी कहा है। ऐसा कहने पर दो प्रश्न उपस्थित होते हैं, तो आत्मा की तरह यह अरूपी भी होना चाहिए और अचेतन भी। इन प्रश्नों का उत्तर भी स्पष्ट रूप से दिया गया है कि शरीर रूपी भी है और अरूपी भी। शरीर सचेतन भी है और अचेतन भी।

जब शरीर को आत्मा से पृथक् माना जाता है, तब वह रूपी और अचेतन है और जब शरीर को आत्मा से अभिन्न माना जाता है, तब शरीर अरूपी और सचेतन है। प्रश्नोत्तर इस प्रकार है—

"आया भन्ते! काये अन्ने काये!
गोयमा! आया वि काये अन्ने वि काये।
रूविं भन्ते, वि काये अन्ने वि काये।
गोयमा! रूविं वि काये अरूविं वि काये।
एवं एक्केक्के पुच्छा
गोयमा, सच्वित्ते वि काये अच्वित्ते वि काये।"

तीसरा प्रश्न तथागत अथवा जीव की नित्यता-अनित्यता से सम्बन्धित है। भगवान् बुद्ध ने आत्म-विषयक चिन्तन को अनुपयोगी कहा और मरणोत्तर स्थिति के बारे में मौन रहे। किन्तु भगवान् महावीर ने जीव की गति और अगति के ज्ञान से मोक्ष लाभ की बात कही। अत: मरणोत्तर स्थिति पर अनेकान्त दृष्टि से कथन किया। उनके मत से तथागत या अर्हत् मरण के पश्चात् भी हैं, क्योंकि जीव द्रव्य तो नष्ट होता नहीं, वह सिद्ध स्वरूप बनता है। किन्तु मनुष्य रूप जो कर्मकृत है वह नष्ट हो जाता है। अतएव सिद्धावस्था में अर्हत् या तथागत अपने पूर्वरूप में नहीं भी होते हैं। कहा भी है—

"कम्मओ णं भंते जीवे नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ, कम्मओ णं जए णो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ।"

"हंता गोयमा!" (भगवती, 12/5)

भगवान् महावीर ने अपेक्षाभेद से जीव को शाश्वत और अशाश्वत कहा है—इसकी स्पष्टता के लिए निम्नोक्त संवाद पर्याप्त हैं—

"जीवा णं भंते! किं सासया असासया!"

गोयमा! जीवा सिय सासया सिय असासया।गोयमा,दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया। (भगवती, 7/2)

स्पष्ट है कि द्रव्यार्थिक अर्थात् मूलद्रव्य की अपेक्षा से जीव नित्य है और भाव अर्थात् विभिन्न दशाओं की दृष्टि से जीव अनित्य है। इसमें शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों के समन्वय का प्रयत्न है। चेतन-जीव द्रव्य का विनाश कभी नहीं होता। इस दृष्टि से जीव को नित्य मानकर शाश्वतवाद को प्रश्रय दिया है और जीव की नाना अवस्थाएं जो स्पष्टरूप से विनष्ट होती हुई देखी जाती हैं, उनकी अपेक्षा से उच्छेदवाद को भी प्रश्रय दिया। उन्होंने स्पष्टरूप से स्वीकार किया कि बाल्य, यौवन इत्यादि अवस्थाएं अस्थिर हैं इसीलिए उनका परिवर्तन होता है किन्तु चेतन द्रव्य शाश्वत स्थिर है।

जीव की सान्तता और अनन्तता के प्रश्न का समाधान भी उन्होंने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर अनेकान्तात्मक दिया है। उनके कथन का सार है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जीव द्रव्य से सान्त।
क्षेत्र से सान्त।
काल से अनन्त।
भाव से अनन्त है।

इस प्रकार जीव सान्त भी है और अनन्त भी है—यह भगवान् महावीर का मन्तव्य है। काल की दृष्टि से और पर्यायों की दृष्टि से उसका कोई अन्त नहीं। द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा से सान्त है। यह कह करके भगवान् महावीर ने आत्मा के "अणोरणीयान् महतो महीयान्" इस औपनिषद मत का निराकरण किया है। क्षेत्र की दृष्टि से आत्मा की व्यापकता यह भगवान् महावीर को मान्य नहीं था और एक आत्म द्रव्य ही सब कुछ है, वह भी उन्हें मान्य नहीं किन्तु आत्मद्रव्य और उसका क्षेत्र भी मर्यादित है इस बात को स्वीकार करके उन्होंने उसे सान्त कहते हुए भी काल की दृष्टि से अनन्त भी कहा है। एक दूसरी दृष्टि से भी उन्होंने उसे अनन्त कहा है—जीव के ज्ञान-पर्यायों का कोई अन्त नहीं, उसके दर्शन पर्यायों का भी कोई अन्त नहीं है व अन्यान्य पर्यायों का भी कोई अन्त नहीं क्योंकि प्रत्येक क्षण में इन पर्यायों का नया-नया आविर्भाव होता रहता है और पूर्व पर्याय का विनाश होता रहता है। इस भावदृष्टि से भी जीव को अनन्त कहा जा सकता है।

उपर्युक्त अव्याकृत प्रश्नों के अलावा द्रव्य-पर्याय का भेदाभेद, परमाणु की नित्यानित्यता, कारण-कार्य इत्यादि प्रश्नों को भी अनेकान्तिक दृष्टि से सुलझाया। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनागमों में अस्ति-नास्ति नित्यानित्य, एकानेक तथा सान्त-अनन्त इन विरोधी धर्मयुगलों को अनेकान्तवाद के माध्यम से एक ही वस्तु में घटाया गया है। भगवान् महावीर ने नाना सिद्धान्तों में अनेकान्तवाद की जो प्रतिष्ठा की है, उसी का आश्रय लेकर बाद के दार्शनिकों ने तार्किक ढंग से अन्य दर्शनों के मन्तव्यों को अयुक्त दिखलाकर उपर्युक्त वादों का समर्थन किया है। दार्शनिक चर्चा के विकास के साथ ही जैसे-जैसे प्रश्नों की विविधता बढ़ती गई, वैसे-वैसे अनेकान्तवाद का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। परन्तु मालवणीयाजी के अभिमत से अनेकान्तवाद के मूल प्रश्नों में कोई अन्तर नहीं पड़ा। यदि आगमों में द्रव्य और पर्याय के तथा जीव और शरीर के भेदाभेद का अनेकान्तवाद है तो दार्शनिक विकास के युग में सामान्य और विशेष, द्रव्य और गुण, द्रव्य और कर्म, द्रव्य और जाति इत्यादि अनेक विषयों में भेदाभेद की चर्चा और समर्थन हुआ है। यद्यपि यह चर्चा विकसित और विस्तृत प्रतीत होती है तथापि सबका मूल द्रव्य और पर्याय के भेदाभेद में ही है। इसी प्रकार नित्यानित्य, एकानेक, सान्त-अनन्त इन धर्मयुगलों का भी समन्वय क्षेत्र कितना ही विस्तृत क्यों न हो, फिर भी उनकी चर्चा आगम में हुई है,वही इनका मूलाधार है और उसी के आधार पर अनेकान्तवाद का महावृक्ष प्रतिष्ठित है।

अनेकान्तवाद और विभज्यवाद में दो विरोधी धर्मों का स्वीकार समानभाव से हुआ है। इसी आधार पर दोनों एक-दूसरे के पर्यायवाची मान लिये गये हैं। परन्तु दो विरोधी धर्मों का स्वीकार किसी-न-किसी अपेक्षा विशेष से ही हो सकता है—इसी दृष्टि से वाक्यों में 'स्यात्' शब्द के प्रयोग की प्रथा हुई। भगवतीसूत्र में अनेक स्थलों पर नाना धर्मों के समन्वय हेतु 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी कारण अनेकान्तवाद स्याद्वाद के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ।

13.6 अनेकान्त-स्थापना युग अथवा दर्शन युग में अनेकान्तवाद

नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु और दिग्नाग आदि बौद्ध विद्वानों ने भारतीय दार्शनिक परम्परा को एक नयी गति प्रदान की है। नागार्जुन ने तत्कालीन बौद्ध और बौद्धेत्तर सभी दार्शनिकों के सामने अपने शून्यवाद को उपस्थित करके वस्तु को सापेक्ष सिद्ध किया। उनका कहना था कि वस्तु न भावरूप है न अभावरूप है, न उभयरूप है और न अनुभयरूप है। वस्तु को किसी प्रकार बताया नहीं जा सकता। वस्तु निःस्वभाव है—यही

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नागार्जुन का मन्तव्य था। असङ्ग. और वसुबन्धु इन दोनों भाइयों ने वस्तु को विज्ञानरूप सिद्ध किया और बाह्य जड़ पदार्थों को अस्वीकार किया। वसुबन्धु के शिष्य दिग्नाग ने भी उनका समर्थन किया और समर्थन करने के लिए बौद्ध दृष्टि से नवीन प्रमाण शास्त्र की भी नींव रखी। इसी कारण से वह बौद्ध न्यायशास्त्र का पिता कहा जाता है। उसने प्रमाणशास्त्र के बल पर सभी वस्तुओं की क्षणिकता के बौद्ध सिद्धान्त का भी समर्थन किया।

बौद्ध विद्वानों के विरुद्ध में भारतीय सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने पक्ष की सिद्धि करने के लिए पूरा बल लगाया। नैयायिक वात्स्यायन ने नागार्जुन और अन्य दार्शनिकों का खण्डन करके आत्मा आदि प्रमेयों की भावरूपता सिद्ध की। मीमांसक शबर ने विज्ञानवाद और शून्यवाद का निरास किया तथा वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध की। वात्स्यायन और शबर दोनों ने बौद्धों के 'सर्वं क्षणिकम्' सिद्धान्त की आलोचना करके आत्मा आदि पदार्थों की नित्यता की रक्षा की। सांख्यों ने भी अपने पक्ष की रक्षा के लिए प्रयत्न किया। इन सभी को अकेले दिग्नाग ने उत्तर दे करके फिर विज्ञानवाद का समर्थन किया तथा बौद्ध सम्मत सर्व वस्तुओं की क्षणिकता का सिद्धान्त स्थिर किया।

ईसा की पांचवीं शताब्दी तक चलने वाले दार्शनिकों के इस संघर्ष का लाभ जैन दार्शनिकों ने अनेकान्तवाद की व्यवस्था करके उठाया।

भगवान् महावीर के उपदेशों में नयवाद अर्थात् वस्तु का सापेक्षरूप में अनेक दृष्टियों से चिन्तन के सिद्धान्त का स्थान था। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार अपेक्षाओं के आधार पर किसी भी वस्तु का विधान या निषेध किया जाता है—यह भी आगम-सिद्ध था तथा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों (संदर्भों) को लेकर किसी भी पदार्थ पर विचार करना भी भगवान् महावीर की तत्त्व विश्लेषण की मुख्य शिक्षा रही। इन सभी भगवदुपदिष्ट तत्त्वों के प्रकाश में जब सिद्धसेन ने उपर्युक्त दार्शनिकों के वाद-विवादों को देखा, तब उन्होंने अनेकान्तवाद की स्थापना के लिए उपयुक्त अवसर देखा और अपने 'सन्मतितर्क' नामक ग्रन्थ में तथा भगवान् की स्तुति-परक रचनाओं (बत्तीसियों) में अनेकान्तवाद का प्रबल समर्थन किया। यह कार्य उन्होंने विक्रम की 5वीं शताब्दी में किया।

ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर पांचवी शताब्दी तक की इस दार्शनिक वादों की पृष्ठभूमि को यदि ध्यान में रखें, तो प्रतीत होगा कि जैन दार्शनिक सिद्धसेन का आविर्भाव यह एक आकस्मिक घटना नहीं किन्तु जैन साहित्य के क्षेत्र में दिग्नाग के समान एक प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् की आवश्यकता ने ही प्रतिभा-मूर्त्ति सिद्धसेन को उत्पन्न किया है।

सिद्धसेन प्रबल वादी तो थे ही। अतएव उन्होंने जैन सिद्धान्तों को तार्किक भूमिका पर ले जा करके एक वादी की कुशलता से दार्शनिकों के बीच अनेकान्तवाद की स्थापना की। सिद्धसेन की विशेषता यह रही कि उन्होंने तत्कालीन नाना वादों को सन्मति तर्क में विभिन्न नयवादों में सन्निविष्ट कर दिया। अर्थात् सापेक्ष दृष्टि से उन मतों की युक्ति-संगतता पर विचार किया। अद्वैतवादों को उन्होंने द्रव्यार्थिक नय के संग्रहनयरूप प्रभेद में समाविष्ट किया। क्षणिकवादी बौद्धों की दृष्टि को सिद्धसेन ने पर्यायार्थिक नय के अन्तर्गत ऋजुसूत्र नय का वक्तव्य बताया। सांख्य दृष्टि का समावेश द्रव्यार्थिक नय में किया और वैशेषिक दर्शन को दोनों नयों पर आधारित सिद्ध किया। उनका तो यहां तक कहना है कि संसार में जितने वचन के प्रकार हो सकते हैं, उतने ही नयवाद हैं। उन सबके समागम में ही अनेकान्तवाद फलित होता है—

जावइया वयणपहा तावइया चेव होन्ति णयवाया।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सिद्धसेन ने यह भी कहा कि ये सभी दर्शन तभी तक मिथ्या हैं जब तक वे एक-दूसरे को मिथ्या सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, एक-दूसरे के दृष्टिबिन्दु को समझने का प्रयत्न नहीं करते—'पर वियालणे मोहा।' अतएव दार्शनिकों को अपने पक्ष की कमियों का तथा दूसरों के पक्ष की खुबियों का पता नहीं लगता। एक तटस्थ व्यक्ति ही आपस में लड़ने वाले इन वादियों के गुण-दोषों को जान सकता है। यदि स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का अवलम्बन लिया जाए तो अद्वैतवाद भी एक दृष्टि से ठीक ही है। जब मनुष्य अभेद (एकता) की ओर दृष्टि करता है और भेद की ओर उदासीन हो जाता है, तब उसे अभेद ही अभेद नजर आता है। जैनदृष्टि से उनका यह दर्शन द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा से हुआ है—यह कहा जाएगा। किन्तु दूसरा व्यक्ति अभेदगामी दृष्टि से काम न लेकर यदि भेद-गामी दृष्टि अर्थात् पर्यायार्थिक नय के बल से प्रवृत्त होता है तो उसे सर्वत्र भेद ही भेद दिखाई देगा। वस्तुतः पदार्थ में भेद भी है और अभेद भी है। सांख्यों ने अभेद ही को मुख्य माना और बौद्धों ने भेद ही को मुख्य माना और वे दोनों परस्पर के खण्डन करने में प्रवृत्त हुए। अतएव वे दोनों मिथ्या हैं, किन्तु स्याद्वादी की दृष्टि में भेद दर्शन भी ठीक है और अभेद दर्शन भी। दो मिथ्या अन्त मिलकर ही स्याद्वाद होता है, फिर भी वह सही है। उसका कारण यह है कि स्याद्वाद में उन दोनों विरुद्ध मतों का समन्वय है सापेक्ष दृष्टि से विचार करने पर दोनों विरुद्ध मतों का विरोध समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार नित्य-अनित्यवाद, हेतु-अहेतुवाद, भाव-अभाववाद, सत्कार्य-असत्कार्यवाद आदि नाना विरुद्ध वादों का समन्वय सिद्धसेन ने किया है।

सिद्धसेन की भांति अनेकान्तवाद-स्थापन के इस कार्य में समन्तभद्र ने भी महनीय योगदान दिया। उन्होंने तत्कालीन विरोधी एकान्तवादों में दोष बताकर स्याद्वाद को स्वीकार करने पर ही निर्दोषता हो सकती है, इस बात को स्पष्ट किया है। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने विरोधी वादों के युगल को लेकर सप्तभंगियों की योजना कैसे करना इसका स्पष्टीकरण। भाव-अभाव, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद, हेतु-अहेतुवाद, सामान्य-विशेष, अस्ति-नास्ति इत्यादि तत्कालीन नानामतों में सप्तभंगी की योजना करके किया है। वस्तुतः समन्तभद्र द्वारा रचित आप्त-मीमांसा अनेकान्त की स्थापना के लिए श्रेष्ठ ग्रन्थ सिद्ध हुआ है। आप्त (प्रामाणिक वक्ता) किसे माना जाए? इस प्रश्न के उत्तर में ही उन्होंने यह सिद्ध किया है कि स्याद्वाद ही निर्दोष है। अतः उस वाद के उपदेशक ही आप्त हो सकते हैं। दूसरों के वादों में अनेक दोषों का दर्शन कराकर उन्होंने सिद्ध किया है कि दूसरे आप्त नहीं हो सकते क्योंकि उनका दर्शन बाधित है। समन्तभद्र 'युक्त्यनुशासन' में दूसरों के दर्शन में दोष दिखलाकर उन दोषों का अभाव जैनदर्शन में सिद्ध किया है तथा जैनदर्शन के गुणों का सद्भाव अन्य दर्शन में नहीं है—इस बात को युक्तिपूर्वक सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है।

सन्मतितर्क के टीकाकार मल्लवादी ने 'नय-चक्र' नामक एक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना, विक्रम पांचवीं छठी शताब्दी में की है। अनेकान्त को सिद्ध करने वाला यह एक अद्भूत ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ने सभी वादों के एक चक्र की कल्पना की है जिसमें पूर्व-पूर्व वाद से उत्तर-उत्तर वाद प्रबल मालूम होता है किन्तु चक्रगत होने से प्रत्येक वाद की प्रबलता या निर्बलता यह सापेक्ष है। कोई निर्बल ही हो या सबल ही हो—यह एकान्तरूप से नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार सभी दार्शनिक अपने गुण-दोषों का यथार्थ प्रतिबिम्ब देख लेते हैं। इस स्थिति में स्याद्वाद की स्थापना अनायास स्वतः सिद्ध हो जाती है।

सिंहगणी ने सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में नयचक्र के ऊपर 18000 श्लोकप्रमाण टीका लिखकर तत्कालीन सभी वादों की विस्तृत चर्चा की है।

इस प्रकार इस युग के मुख्य कार्य अनेकान्त की व्यवस्था करने में सभी जैनाचार्यों ने भरसक प्रयत्न किया है और उस वाद को एक स्थिर भूमिका पर रख दिया है जिससे आगे के आचार्यों के लिए केवल उस वाद के ऊपर होने वाले नये-नये आक्षेपों का उत्तर देना ही शेष रह गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

13.7 प्रमाण–व्यवस्था युग में अनेकान्तवाद

प्रमाण व्यवस्था के युग में जैनाचार्यों ने पूर्व युग की सम्पत्ति अनेकान्तवाद की रक्षा और उसका विस्तार किया। आचार्य हरिभद्र और अकलंक ने भी इस कार्य को गति प्रदान की। आचार्य हरिभद्र ने अनेकान्त के ऊपर होने वाले आक्षेपों का उत्तर 'अनेकान्त–जय–पताका' लिख कर दिया। आचार्य अकलंक ने आप्त–मीमांसा के ऊपर अष्टशती नामक टीका लिखकर बौद्ध और अन्य दार्शनिकों के आक्षेपों का तर्कसंगत उत्तर दिया। उसके बाद विद्यानन्द ने 'अष्टसहस्त्री' नामक महती टीका लिखकर अनेकान्त को अजेय सिद्ध कर दिया। उन्होंने अपने समय तक विकसित दार्शनिक वादों को 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' में स्थान दिया और उनका समन्वय करके अनेकान्तवाद की चर्चा को पल्लवित किया। विद्यानन्द के पश्चात् 10 से 12वीं शताब्दी तक के काल में माणिक्य नन्दी, अभयदेव, प्रभाचन्द्र वादिदेव सूरि तथा हेमचन्द्र प्रभृति आचार्यों ने परीक्षामुख, सन्मतितर्क की टीका, प्रमेय–कमल–मार्तण्ड, लघीयस्त्रय तथा स्याद्वाद रत्नाकर आदि लिखकर प्रमाण, अनेकान्त और नय की विस्तृत चर्चा की।

13.8 नव्य न्याय युग में अनेकान्तवाद

भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में नव्यन्याय के युग का प्रारम्भ गंगेश उपाध्याय से होता है। गंगेश का जन्म विक्रम 1257 में हुआ। उन्होंने नवीन न्याय–शैली का विकास किया। तभी से समस्त दार्शनिकों ने उसके प्रकाश में अपने–अपने दर्शन का परिष्कार किया। किन्तु जैन दार्शनिकों में से किसी का जब तक यशो–विजय नहीं हुए, इस ओर ध्यान नहीं गया। फल यह हुआ कि 13वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी के अंत तक भारतीय दर्शनों की विचारधारा का जो नया विकास हुआ, उससे जैन दार्शनिक साहित्य वंचित रह गया। 17वीं शताब्दी के प्रारम्भ में वाचक यशोविजय ने काशी की ओर प्रयाण किया और सर्वशास्त्र वैशारद्य प्राप्त कर उन्होंने जैनदर्शन में भी नवीन न्यायशैली से अनेक ग्रन्थ लिखें और अनेकान्तवाद के ऊपर दिए गए आक्षेपों का समाधान करने का प्रयत्न किया। उन्होंने 'अनेकान्त व्यवस्था' लिखकर अनेकान्तवाद की पुनः प्रतिष्ठा की। अष्टसहस्री और शास्त्रवार्ता समुच्चय नामक प्राचीन ग्रन्थों के ऊपर नवीन शैली की टीका लिखकर उन दोनों ग्रन्थों को आधुनिक बनाकर उनका उद्धार किया। जैन तर्कभाषा और ज्ञानबिन्दु लिखकर जैन प्रमाणशास्त्र को परिष्कृत किया। उन्होंने नयवाद जो अनेकान्तवाद का आधारभूत सिद्धान्त है, के विषय में नयप्रदीप, नयरहस्य, नयोपदेश आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। इसी युग में श्रीमद् विमलदास ने अनेकान्तवाद के स्वरूप को यौक्तिक धरातल पर स्पष्ट करने हेतु 'सप्तभंगीतरंगिणी' जैसे नव्य न्याय की भाषा में चर्चा जटिल ग्रन्थ की रचना की।

13.9 आधुनिक युग में अनेकान्तवाद

आधुनिक युग में भी विद्वानों के द्वारा अनेकान्तवाद को प्रतिष्ठित करने के लिए अंग्रेजी और हिन्दी भाषा में अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं। यद्यपि वर्तमान में अनेकान्तवाद प्रतिष्ठित हो चुका है, जैनदर्शन की अनन्य पहचान बन चुका है। सत्य–शोध के वैज्ञानिक सिद्धान्त वैचारिक समन्वय और व्यावहारिक समस्याओं के समाधान की दिशा में अद्वितीय दृष्टि के रूप में मान्यता प्राप्त हो रहा है। अतः प्राचीन समय में इसके विषय में जैसे आक्षेप उठाये जाते थे आज वैसे आक्षेपों का सामना नहीं करना पड़ता है फिर भी कहीं–कहीं इस सिद्धान्त का गइराई से अवलोकन न कर पाने के कारण शंकराचार्य और डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जैसे विद्वानों को भी स्याद्वाद, संशयवाद या अनिर्णायक सिद्धान्त प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार के भ्रम का निवारण करने के लिए सतकर्णी मुखर्जी जैसे विद्वान् को 'Non-absolutism' पुस्तक लिखकर अनेकान्तवाद की सुनिश्चितता और असंदिग्धता के विषय में स्पष्टीकरण करना आवश्यक हो जाता है। बी. के. मतिलाल ने 'The Central Philosophy of Jainism Anekantavada' के नाम से पुस्तक लिखी है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनेकान्तवाद की व्यापक उपयोगिता को प्रकाश में लाने के लिए 'अनेकान्त है तीसरा नेत्र', 'सत्य की खोज अनेकान्त के आलोक में' इत्यादि सर्वजनग्राह्य पुस्तकों का प्रणयन किया। डॉ. भिखारीराव यादव ने 'स्याद्वाद और सप्तभंगीनय' इस विषय पर अपना शोध-कार्य प्रस्तुत किया। इस प्रकार के और भी अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं जिनमें अन्य भारतीय दर्शनों तथा समकालीन तर्कशास्त्र के सन्दर्भ में अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी सिद्धान्त का अध्ययन किया गया है।

13.10 सारांश

इस प्रकार हमने इस पाठ में अनेकान्तवाद के उद्भव और विकासक्रम को प्राचीन से अर्वाचीन युग में कहां किस रूप में हुआ है इसकी संक्षिप्त जानकारी दी है।

13.11 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अनेकान्तवाद के उद्भव और विकासक्रम को विस्तार से दिखलाएं।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. 'आगम युग में अनेकान्तवाद', अथवा 'दर्शन युग में अनेकान्तवाद' इसे स्पष्ट करें।
2. नव्यन्याय युग तथा आधुनिक युग में अनेकान्तवाद के विकास की संक्षिप्त झांकी प्रस्तुत करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

एक शब्द में उत्तर दें—

1. जैनदर्शन की आधारभूत दृष्टि क्या रही है?
2. शंकराचार्य की अपने मत निरूपण में मूल दृष्टि क्या थी?
3. क्या अनेकान्तवाद अन्य दर्शनों में भी चर्चित रहा है।
4. भगवान् महावीर अनेकान्तवादी विचारधारा के प्रवर्तक थे—यह विशेषतः किस आगम से प्रमाणित होता है।
5. विभज्यवाद से आप क्या समझते हैं?
6. स्याद्वाद एवं अनेकान्तवाद में क्या अन्तर है।
7. सिद्धसेन ने अनेकान्तवाद के क्षेत्र में क्या विशेष योगदान दिया?
8. समन्तभद्र ने अनेकान्तवाद के क्षेत्र में क्या विशेष कार्य किया?
9. अनेकान्त दृष्टि से लोक शाश्वत है या अशाश्वत?
10. शरीर को किस आधार पर अरूपी और सचेतन कहा जा सकता है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. अनेकान्तवाद 2. अद्वैतदृष्टि 3. हाँ
4. भगवतीसूत्र 5. विभाग करके कथन करना
6. अनेकान्तवाद सिद्धान्त है, स्याद्वाद उसका भाषाई प्रयोग है।
7. नय दृष्टि से अन्य दर्शनों का समन्वय
8. तत्कालीन विरोधी एकान्तवादों में दोष दिखलाकर स्याद्वाद की निर्दोषता प्रमाणित की।
9. दोनों हैं। 10. आत्मा और शरीर में अभेद मानने पर।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–14 : नय का उद्भव और विकास

संरचना

14.0 प्रस्तावना
14.1 उद्देश्य
14.2 भगवान महावीर और नयवाद
14.3 आगमों में नय
14.4 अनुयोग और नय
14.5 नय के निर्वचन और परिभाषा
14.6 नय के भेद
14.7 नय विकास के नये आयाम
14.8 नैगम आदि नय : एक विमर्श
14.9 नयमार्ग में नया प्रस्थान
14.10 नय और प्रमाण
14.11 नय और स्यात् पद
14.12 नय और समन्वय
14.13 नय का कार्य
14.13 सारांश
14.14 अभ्यास प्रश्नावली

14.0 प्रस्तावना

"णत्थि णएहि विहूणं, सुत्तं अत्थो व जिणमए किंचि।"—जिनमत में सूत्र हो या अर्थ, नय से विहीन कुछ भी नहीं है—आचार्य भद्रबाहु की इस उद्घोषणा में नय के उद्भवबीज निहित हैं। जब से अर्हत् वाणी का उद्भव हुआ, तब से नय का उद्भव हुआ। अर्हत् वाणी और नय साथ-साथ चलते हैं, इन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। वर्तमान कालखण्ड में भगवान् महावीर की वाणी नय का उद्भवक्षेत्र है। आवश्यकनिर्युक्ति (734) और विशेषावश्यक भाष्य (3343) के अनुसार सामायिक अध्ययन के मूल स्रोत भगवान् महावीर हैं। वैशाख शुक्ला एकादशी, पूर्वाह्न काल में सामायिक का निर्गमन महावीर से हुआ। महासेनवन नामक उद्यान में सामायिक की उत्पत्ति हुई। नय का निर्गम, क्षेत्र और काल भी यही माना जा सकता है।

14.1 उद्देश्य

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद की ही भांति नय भी सत्यशोध की ही दृष्टि है। मूलरूप से दो नय माने गये हैं और उनके अवान्तर भेद सात है। यों तो जितने वचन भेद होते हैं उतने नय होते हैं। यहां इस मर्म को हम समझ सकेंगें।)

14.2 भगवान् महावीर और नयवाद

श्रमण भगवान् महावीर ने सत्य की शोध के लिए सापेक्ष दृष्टि का निर्धारण किया। सापेक्षता का मूल आधार नयवाद है। जैसे शास्त्र-रचना का आधार मातृकापद (अकार आदि वर्ण) हैं, तत्त्व का आधार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की त्रिपदी है, वैसे ही अनेकान्त का आधार नयवाद है। अनेकान्त के उद्गाता महावीर का प्रत्येक वचन, प्रत्येक समाधान नयस्फुलिंगों से ज्योतिर्मय है। उदाहरणार्थ भगवती के कुछ प्रसंग पठनीय हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गौतम ने पूछा—भंते! जीव शाश्वत है या अशाश्वत? महावीर ने कहा—

..... गोयमा! जीवा सिय सासया, सिय असासया।.....
दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया॥ (भ. 7/58, 59)

गौतम! जीव स्यात् शाश्वत है और स्यात् अशाश्वत है। द्रव्यार्थिक से जीव शाश्वत है, भावार्थिक (पर्यायार्थिक) से अशाश्वत है।

गौतम ने पूछा—नैरयिक शाश्वत है या अशाश्वत? महावीर ने कहा—

गोयमा! अव्वोच्छित्तिनयट्ठयाए सासया,
वोच्छित्तिनयट्ठाए असासया॥ (भ. 7/94)

गौतम! अव्युच्छित्तिनय से नैरयिक शाश्वत है और व्युच्छित्तिनय से अशाश्वत।

भंते! भौंरे में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श कितने होते हैं? भगवान् ने कहा—

..... गोयमा! एत्थ णं दो नया भवंति, तं जहा—
नेच्छइयनए य, वावहारियनए य।
वावहारियनयस्स कालए भमरे,
नेच्छइयनयस्स पंचवण्णे जाव अट्ठफासे पण्णत्ते। (भत्र 18/108)

गौतम! इसकी वक्तव्यता दो नयों से होती है—1. नैश्चयिक नय 2. व्यावहारिक नय। व्यावहारिक नय की अपेक्षा भ्रमर काला है। नैश्चयिक नय की अपेक्षा वह पांच वर्ण यावत् आठ स्पर्श वाला है।

भंते! रत्नप्रभा पृथ्वी आत्मा है या अन्य है? गौतम! रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मा है, स्यात् आत्मा नहीं है, स्यात् अवक्तव्य है, यह कैसे? वह स्व की अपेक्षा से आत्मा है, पर की अपेक्षा से आत्मा नहीं है, तदुभय की अपेक्षा से अवक्तव्य है। (भ. 12/211/212)

स्कन्दक ने पूछा—भंते! लोक सांत है या अनन्त? भगवान् ने कहा—द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से लोक सांत है, काल और भाव की दृष्टि से लोक अनन्त है। (भ. 2/45)

सोमिल ने पूछा—भंते! आप एक हैं या अनेक? सोमिल! मैं द्रव्य की अपेक्षा से एक हूं, ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा से दो हूं। प्रदेश (द्रव्य का घटक अवयव) की अपेक्षा से अक्षय, अव्यय और अवस्थित हूं। उपयोग (परिणमनशील चैतन्य व्यापार) की अपेक्षा से मैं अनेक हूं। (भ. 18/219/220)

भगवती के उल्लिखित उद्धरणों के आधार पर स्पष्ट है कि भगवान् महावीर की उत्तर देने की शैली सापेक्षता पर आधारित थी। वहां द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इस दृष्टि चतुष्टयी का प्रयोग भी बहुलता से हुआ है। निश्चयनय-व्यवहारनय, अव्युच्छित्तिनय-व्युच्छित्तिनय, द्रव्यार्थिकनय-पर्यायार्थिकनय (भावार्थिकनय)—नय की इस युगलत्रयी के माध्यम से महावीर ने तत्त्वों का विशदता से प्रज्ञापन किया। इसीलिए आचार्य सिद्धसेन ने कहा—

"तीर्थंकर के वचन सामान्य-विशेषात्मक होते हैं। इसके प्रतिनिधिनय दो हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक नय सामान्य (अभेद) और पर्यायार्थिक नय विशेष (भेद) का प्रतिपादक है। शेष नय इन्हीं की शाखा-प्रशाखाएं हैं।" (सन्मतिप्रकरण 1/3)

कोई भी द्रव्य उत्पाद-व्ययरूप पर्याय से रहित नहीं है और कोई पर्याय द्रव्य (ध्रौव्य) से रहित नहीं है—इस वस्तुस्वरूप के आधार पर दो नय हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वेदान्त ने अभेद को और बौद्धों ने भेद को सत्य माना। महावीर की अन्तर्दृष्टि ने इन दोनों में विद्यमान सत्यांश को देखा और घोषणा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

की—'प्रत्येक वस्तु अस्ति-नास्ति, सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य आदि अनन्त विरोधी धर्मयुगलों का समूह है। यही अनेकान्त है। स्वतंत्ररूप से भेद और अभेद दोनों सत्य नहीं, सापेक्षरूप से दोनों सत्य हैं—यही नयवाद की पृष्ठभूमि है।

14.3 आगमों में नय

आगमयुग में नय पद्धति का विकसित रूप था। प्रत्येक सूत्र के अर्थ की प्रतिपत्ति गहन नयवाद पर आश्रित थी। आचारांग में अनेक सूत्र ऐसे हैं—जिनका हृदय नय के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है, अन्यथा मूढ़ता और भ्रांति पैदा हो सकती है। उदाहरण के लिए आचारांग के कुछ सूत्र द्रष्टव्य हैं—

- जे लोयं अब्भाइक्खइ, से अत्ताणं अब्भाइक्खइ।
  जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से लोयं अब्भाइक्खइ। (1/39)
- जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ।
  जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ। (1/147)
- जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ।
  जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ। (3/74)
- जे एगं नामे, से बहुं नामे।
  जे बहुं नामे, से एगं नामे। (3/76)

गत-प्रत्यागतशैली में संदृब्ध इन सूत्रों का रहस्य विविध नयों के आलोक में ही उद्घाटित हो सकता है। इस संदर्भ में आचारांगभाष्य पठनीय है। आचारांग (2/177) में स्पष्ट निर्देश है कि परिषद् में कौन श्रोता किस नय का पक्षधर है (के यं पुरिसे कं च णए)—यह जानकर मुनि प्रवचन करें। इसका संवादी वचन है—

"आसज्ज उ सोयारं णए णयविसारओ बूया।" (आवश्यक निर्युक्ति, गा. 731)

तत्त्वमीमांसा और आचार मीमांसा—दोनों में नय की उपयोगिता है। सूयगडो (2/5) में एकान्तवाद को मिथ्या, अव्यवहार्य और अनाचार कहा गया है तथा अनेकान्तवाद को सम्यक्, व्यवहार्य और आचार कहा गया है। इस आचारश्रुत अध्ययन में सतरह प्रतिपक्षी युगलों का कथन है। जैसे—

- लोक शाश्वत भी है, अशाश्वत भी है।
- भव्य प्राणी मुक्त भी होंगे और मुक्त नहीं भी होंगे।
- छोटे-बड़े प्राणी को मारने से कर्मबंध सदृश भी होता है और विसदृश भी।
- आधाकर्म का उपभोग करने से कर्मबंध होता भी है और नहीं भी होता।

इस प्रकार की स्वीकृति आचार है। वृत्तिकार शीलांकसूरि ने लिखा—

"एकनयदृष्ट्याऽवधारणात्मकप्रत्ययमनाचारम्।" (वृत्ति, पत्र 120)

एकांत दृष्टि से किया जाने वाला चिन्तन और प्रतिपादन अनाचार है। एकान्तवाद का सेवन सैद्धान्तिक अनाचार है। स्याद्वाद और नयवाद का प्रयोग वाणी का आचार है।

ठाणं (3/402) में नरक का नय दृष्टि से विचार किया गया है। प्रथम तीन नयों की अपेक्षा नरक पृथ्वीप्रतिष्ठित हैं, ऋजुसूत्र की अपेक्षा आकाशप्रतिष्ठित और शब्दनयों की अपेक्षा आत्मप्रतिष्ठित हैं। इस आधार पर सात नय तीन भागों में विभक्त होते हैं—

1. अशुद्ध नय—प्रथम तीन नय।
2. शुद्ध नय—ऋजुसूत्र नय।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. शुद्धतर नय— तीन शब्द नय।

ठाणं (4/300, 301) के संख्यापद में मातृकापद को सब नयों का बीजभूत कहा गया है। वहां एक और अनेक के प्रकारों का उल्लेख है। एक के चार प्रकार हैं—

1. द्रव्य एक—द्रव्यत्व की दृष्टि से द्रव्य एक है।

2. मातृकापद एक—सब नयों का बीजभूत मातृकापद (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की त्रिपदी) एक है।

3. पर्याय एक—पर्यायत्व की दृष्टि से पर्याय एक है।

4. संग्रह एक—संग्रह की दृष्टि से बहु वचन में भी एक वचन का प्रयोग होता है।

अनेक के चार प्रकार हैं—

1. द्रव्य अनेक—द्रव्य-व्यक्ति की दृष्टि से द्रव्य अनेक हैं।

2. मातृका अनेक—विविध नयों की दृष्टि से मातृका अनेक हैं।

3. पर्याय अनेक—पर्याय-व्यक्ति की दृष्टि से पर्याय अनेक हैं।

4. संग्रह अनेक—अवान्तर जातियों की दृष्टि से संग्रह अनेक हैं।

नय की पृष्ठभूमि को समझने के लिए यह पद बहुत महत्त्वपूर्ण है। द्रव्य एक है, अनेक हैं, पर्याय एक है, अनेक हैं इत्यादि विरोधी लगने वाले इन पदों के विरोध का परिहार नयवाद के आधार पर सरलता से किया जा सकता है। द्रव्यार्थिक दृष्टि अभेदगामी है, पर्यायार्थिक दृष्टि भेदगामी है।

ठाणं (7/38) में सात मूल नयों का नामोल्लेख है—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। अनुयोगद्वार और आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार भी मूल नय सात हैं।

भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) में द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय प्रज्ञप्त हैं, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। वहां सात नयों का उल्लेख नहीं है।

समवाओ (प्रकीर्णक समवाय, सूत्र 100-131) और नंदी (सूत्र 92-123) में 'दृष्टिवाद' आगम का विवरण उपलब्ध है। वहां चार नय और तीन नय का भी उल्लेख है। चूर्णिकार ने चार नय ये बताये हैं—संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द। आजीवक परम्परा के अनुसार तीन नय ये हैं—द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक और उभयार्थिक (नंदीचूर्णि, पृष्ठ 72, 73)

दृष्टिवाद में विभिन्न दार्शनिकों की दृष्टियों का निरूपण है, सब नय दृष्टियों से वस्तु सत्य का विचार किया गया है (नंदीचूर्णि, पृष्ठ 71)। यह आगम वर्तमान में अनुपलब्ध है।

'प्रज्ञापना' अंगबाह्य आगम है। इसके रचनाकार श्यामाचार्य ने इसे 'दृष्टिवाद' का निष्यन्द (सार) कहा है—

"अज्झयणमिणं चित्तं, सुयरयणं दिट्ठिवायणीसंदं।" (पण्णवणा, गा. 3)

प्रज्ञापना (16/46) में नय के साथ गति शब्द का प्रयोग हुआ है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। वहां नयगति के सात प्रकार प्रज्ञप्त हैं—नैगमनयगति, संग्रहनयगति आदि।

अनुयोगद्वार (715/2, 3) में नय के स्थान पर वचन और नय के साथ विधि शब्द का प्रयोग भी हुआ है—संगहवयणं .... उज्जुसुओ नयविही।

उत्तराध्ययन का 'परीषह-प्रविभक्ति' नामक दूसरा अध्ययन कर्मप्रवाद पूर्व के सतरहवें प्राभृत से उद्धृत है। इस पूर्व में नय-उदाहरणसहित परीषहों का प्ररूपण था—यह निर्युक्तिकार का अभिमत है। निर्युक्ति की आठ गाथाओं में सात नयों की दृष्टि से परीषह के विविध पहलुओं पर विचार किया गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

14.4 अनुयोग और नय

अनुयोगद्वार (सूत्र 75) में व्याख्या के चार द्वार प्रज्ञप्त हैं—उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय।

निक्षिप्त पद का अनुगम के द्वारा अर्थबोध होने पर नय के द्वारा उसके विभिन्न पर्यायों का अर्थबोध किया जाता है।

उपोद्घातनिर्युक्ति अनुगम के छब्बीस द्वारों में दसवां द्वार है नय जिसमें विभिन्न नयों के अनुसार प्रतिपाद्य विषय का स्वरूप बताया जाता है। इस प्रकार अनुयोगद्वारसूत्र में नय चार अनुयोगद्वारों में स्वयं चौथा अनुयोगद्वार है और अनुगम (तीसरे अनुयोगद्वार) का एक विभाग भी है।

आर्यरक्षित ने दृष्टिवाद की व्याख्या पद्धति समझाने के लिए अनुयोगद्वार की रचना की। दृष्टिवाद में प्रत्येक विषय पर नयदृष्टि से विचार किया जाता था। अतः इस सूत्र में भी यथास्थान नयों का प्रयोग किया गया है। लगभग अस्सी सूत्रों में नैगम-व्यवहार और संग्रह नय की वक्तव्यता के आधार पर आनुपूर्वी का स्वरूप समझाया गया है।

प्रस्थक दृष्टान्त, वसति दृष्टान्त और प्रदेश दृष्टान्त—इन तीन दृष्टान्तों से सात नयों को समझाया गया है। आगम साहित्य में अन्यत्र ये दृष्टान्त कहीं नहीं मिलते।

जिनभद्रगणी ने नैगमनय के प्रकारों की व्याख्या में निलयन, प्रस्थक और ग्राम—इन तीन दृष्टान्तों का प्रयोग किया है।

प्रस्तुत आगम के अंत में सात नयों के निर्वचन-लक्षण बताकर ज्ञाननय और क्रियानय का प्रतिपादन किया गया है।

ज्ञातव्य अर्थ का सम्यक् बोध होने पर ही उपादेय के ग्रहण और हेय के अग्रहण में प्रयत्न करना चाहिए—यह ज्ञान प्रधान उपदेश ज्ञाननय है।

ज्ञातव्य अर्थ ज्ञात होने पर भी उपादेय के ग्रहण और हेय के अग्रहण का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए—यह क्रिया प्रधान उपदेश क्रियानय है। (अनुयोगद्वार, सूत्र 715/5)

आवश्यकचूर्णि में सात नयों का इन दो नयों में समवतार किया गया है—प्रथम तीन ज्ञान नय हैं, शेष चार क्रिया (चरण) नय हैं। ज्ञाननय को द्रव्यास्तिक तथा क्रियानय को पर्यायास्तिक कहा गया है।

आर्यवज्रस्वामी तक अपृथक्त्व अनुयोग व्यवस्था थी। प्रत्येक सूत्र की व्याख्या में चरणकरण, धर्मकथा, गणित और द्रव्य—इन चारों अनुयोगों का युगपत् प्रयोग होता था और सब नयों से व्याख्या की जाती थी। अल्पज्ञ, अव्युत्पन्न और अतितार्किक शिष्य नयों के सूक्ष्म-सूक्ष्मतर भेद-प्रभेदों को पूरा समझ नहीं सकेंगे—यह जानकर युग, क्षेत्र और काल के अनुरूप आर्यरक्षित ने पृथक्त्व अनुयोग की व्यवस्था की। तब से नय प्रधान पद्धति प्रायः छिन्न हो गई। यह घटना वीरनिर्माण छठी शताब्दी की है।

14.5 नय के निर्वचन और परिभाषा

प्राचीन युग में या आगम युग में किसी भी शब्द को परिभाषित करने की प्रवृत्ति प्रायः नहीं थी। सीधा भेद-प्रभेदों और दृष्टान्तों के माध्यम से विषय का सांगोपांग बोध करा दिया जाता था। नंदी, अनुयोगद्वार, ठाणं आदि के अनेक स्थल इसके साक्षी हैं। अनुयोगद्वार (सूत्र 506) में भाव प्रमाण के तीन भेद हैं—गुण प्रमाण, नय प्रमाण और संख्या प्रमाण। शिष्य ने पूछा नय प्रमाण क्या है? आचार्य ने कहा—नय प्रमाण तीन दृष्टान्तों से प्रतिपादनीय है—प्रस्थक दृष्टान्त, वसति दृष्टान्त, प्रदेश दृष्टान्त। इन तीन दृष्टान्तों के माध्यम से सात

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नयों को भेद-प्रभेद सहित समझाया गया है। अनुयोगद्वार और आवश्यकनिर्युक्ति में सात नयों की परिभाषा श्लोकों में आबद्ध है।

वाचक मुख्य उमास्वाति ने एकार्थक शब्दों और निर्वचनों के माध्यम से नय को परिभाषित किया है—

नयाः प्रापकाः कारकाः साधकाः निर्वर्तका निर्भासका उपलम्भका व्यञ्जका इत्यनर्थान्तरम्। जीवादीन् पदार्थान् नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्ति इति नयाः।.....ज्ञेयस्य त्वर्थस्याध्यवसायान्तराण्येतानि। (तत्त्वार्थभाष्य 1/35)

जो जीव आदि पदार्थों के प्रापक/ज्ञापक हैं, वे नय हैं। नय ज्ञेयपदार्थ के विषय में होने वाले विभिन्न अध्यवसाय (निर्णय) हैं। जिनभद्रगणी ने अनेक कारकों से नय का निर्वचन किया है—

स नयइ तेण तहिं वा तओऽहवा वत्थुणो व जं नयणं।
बहुहा पज्जायाणं संभवओ सो नओ नाम॥ (विशेषावश्यकभाष्य, गा. 914)

जो अनेक प्रकारों से संभावित पर्यायों से वस्तु का बोध कराता है, वह नय है। इस गाथा में प्रयुक्त तेण, तहिं और तओ—इन पदों को परिणामांतर, क्षेत्रान्तर और कालांतर का प्रतीक माना जा सकता है। जैसा कि धवलाकार ने कहा है—"अनेक गुण पर्यायों के द्वारा जो द्रव्य को परिणामान्तर, क्षेत्रान्तर और कालान्तर में ले जाते हैं यानि द्रव्य के विविध पर्यायों का देश और काल युक्त ज्ञान कराते हैं, वे नय हैं। उच्चारित अर्थपद को अथवा निक्षिप्त पद को दृष्टि में रखकर जो पदार्थ को ठीक निर्णय तक पहुंचा देते हैं, वे नय हैं।" जिनभद्रगणी ने नय को इस रूप में परिभाषित किया है—

एगेण वत्थुणोऽणेगधम्मुणो जमवधारणेणेव।
नयणं धम्मेण तओ होइ नओ .... ॥ (विभा. गा. 2180)

जो अनेक धर्मात्मक वस्तु के एक धर्म का अवलम्बन लेकर अवधारणपूर्वक उसे प्रतीति का विषय बनाता है, वह नय है।

आलाप पद्धति के अनुसार 'जो वस्तु को नाना स्वभावों से हटाकर उसके एक स्वभाव का बोध कराता है, वह नय है। मलयगिरि ने ज्ञाता के अभिप्राय विशेष को नय कहा है—'ज्ञातुरभिप्रायविशेषा नयः।' (आवश्यक वृत्ति, पत्र 369)

शान्त्याचार्य के अनुसार प्रमाण की प्रवृत्ति के पश्चात् होने वाला परामर्श नय है—

'नयः प्रमाणप्रवृत्त्युत्तरकालभावी परामर्शः।' (उत्तराध्ययन वृत्ति, पत्र 67)

वादिदेवसूरि ने अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करने वाले और अन्य धर्मों का निराकरण न करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा है। (प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, 7/1)

14.6 नय के भेद

श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ—दोनों प्रकार का होता है। ज्ञानात्मकश्रुत स्वार्थ और वचनात्मकश्रुत परार्थ है। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार नय वचनात्मक श्रुत के भेद हैं। अतः जितने वचन पथ हैं उतने ही नय हैं। वचनपथ अनन्त हो सकते हैं तो नय भी अनन्त हो सकते हैं किन्तु उसके मौलिक वर्ग दो हैं। आचार्य सिद्धसेन भेदपरक और अभेदपरक के अनुसार मूल नय दो हैं—

1. द्रव्यार्थिक नय—द्रव्यप्रधान दृष्टि।
2. पर्यायार्थिक नय—पर्यायप्रधान दृष्टि।

अनुयोगद्वार में मूल नय सात हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नैगम नय—सामान्य-विशेषग्राही दृष्टिकोण।

संग्रह नय—सामान्यग्राही दृष्टिकोण।

व्यवहार नय—विशेषग्राही दृष्टिकोण।

ऋजुसूत्र नय—वर्तमानग्राही दृष्टिकोण।

शब्द नय—लिंग और वचन के भेद को स्वीकार करने वाला दृष्टिकोण।

समभिरूढ़ नय—शब्द की एकार्थता को अस्वीकार करने वाला दृष्टिकोण।

एवंभूत नय—शब्द और अर्थ की एकात्मकता को स्वीकार करने वाला दृष्टिकोण।

चार नय, पांच नय और छह नय की चर्चा यथावकाश आगे की जाएगी।

आवश्यकनिर्युक्ति (गा. 759) के अनुसार प्रत्येक नय के सौ-सौ भेद हैं। इस प्रकार सात नयों के सात सौ भेद हो जाते हैं। एक अन्य आदेश के अनुसार पांच नयों के पांच सौ भेद हैं—

"एक्केक्को य सयविहो सत्त नयसया हवंति एमेव।
अण्णोऽवि य आएसो पंचेव सया नयाणं तु॥"

आवश्यकवृत्तिकार हरिभद्रसूरि ने 'अवि' शब्द की व्याख्या में छह सौ, चार सौ और दो सौ भेदों का संकेत भी किया है।

इस विवरण के आधार पर यह संभावना की जा सकती है कि भद्रबाहु के समय सात और पांच नयों की मान्यता प्रचलित थी। आचार्य हरिभद्र के समय छह और चार नयों की व्यवस्था भी प्रकाश में थी।

द्वादशारनयचक्र में दसवां भंग हैं—नियम विधि। उसमें बौद्ध दृष्टि से द्रव्य गुण रूप ही है। इसका समभिरूढ़ नय से समर्थन किया गया है। उस प्रसंग में प्रत्येक नय के सौ-सौ भेद प्रज्ञप्त हैं। समभिरूढ़ के सौ भेदों में इस गुणसमभिरूढ़ के विधि आदि बारह भेद बताये गये हैं।

जयधवला (कषायपाहुड़, पृष्ठ 139-148) के अनुसार 'अग्रेयणीय पूर्व' में सात सौ सुनय और दुर्नयों का प्रज्ञापन था।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सोचने और प्रतिपादन के जितने तरीके हैं, जितने वचनमार्ग हैं, उतने नय हैं। इस दृष्टि से नय संख्यात, असंख्यात और अनन्त हो सकते हैं।

14.7 नय विकास के नये आयाम

उमास्वाति के अनुसार नय पांच हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द (तत्त्वार्थसूत्र 1/34)। उन्होंने स्वमनीषा से शब्द नय के तीन भेद किये हैं—साम्प्रत, समभिरूढ़ और एवंभूत। (तत्त्वार्थभाष्य 1/35)

इस प्रकार प्रकारान्तर से उन्होंने सातों नय स्वीकृत कर लिये। ठाणं, अनुयोगद्वार आदि में 'तिण्हं सद्दनयाणं तीन शब्दनय' का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है। अतः शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत—तीनों की एक सामान्य संज्ञा हो जाती है शब्द नय। नंदीचूर्णि में भी तीनों को एक शब्द नय माना गया है।

प्रथम चार नयों में अर्थ प्रधान है और शब्द गौण, इसलिए वे अर्थनय कहलाते हैं। शेष तीन नय शब्दाश्रित होने के कारण शब्दनय है—ऐसा जिनभद्रगणी का अभिमत है।

उमास्वाति ने जीव, नोजीव, अजीव, नोअजीव—इन पदों के माध्यम से नय पद्धति को समझाया है तथा यह भी बताया है कि कौन-सा नय किस ज्ञान के आश्रित है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रन्थों में मुख्यरूप से निश्चय नय और व्यवहार नय के आधार पर आत्मा, कर्म, केवली आदि विषयों की चर्चा की है। उन्होंने निश्चय को भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ कहा है। पंचास्तिकाय में उन्होंने नय को श्रुतज्ञान का एक भेद बताया है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने षड्नयवाद का निरूपण किया। उन्होंने नैगम नय को स्वतंत्र रूप से स्वीकृति नहीं दी। नंदीचूर्णि में नैगम नय के दो भेद किये गये हैं—संग्रह और असंग्रह। संग्रह संग्रहनय में और असंग्रह व्यवहार नय में समाविष्ट है। इसलिए संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द (समभिरूढ़ और एवंभूत नय शब्द नय के अन्तर्गत हैं)—ये चार नय हैं। (नंदीचूर्णि, पृष्ठ 72, 73)

सिद्धसेन ने छह नयों को दो नयों में समवतरित किया—

संग्रह और व्यवहार नय—द्रव्यार्थिक नय।

ऋजुसूत्र आदि चार नय—पर्यायार्थिक नय।

उन्होंने संग्रह को शुद्ध द्रव्यार्थिक बताया और व्यवहार को संग्रह का परिमित खण्ड कहा। उनके अनुसार ऋजुसूत्र पर्यायार्थिक नय का मूल और तीन शब्द नय ऋजुसूत्र की ही उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेद वाली शाखा-प्रशाखाएं हैं।

14.8 नैगम आदि नय : एक विमर्श

अनेकान्तदर्शन के संपोषक आचार्यों ने नैगम नय पर पर्याप्त ऊहापोह किया है। भेदाभेदग्राही नैगम नय ज्ञान के अनेक पथों का स्पर्श करता है। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में यह नय अनेकान्तदृष्टि का प्रतीक है। इसमें सब दर्शनों का समावेश हो सकता है।

उमास्वाति ने निगम का अर्थ जनपद किया है। जनपद में जिस शब्द का जो अर्थ है और जिस अर्थ के लिए जो शब्द प्रयुक्त होता है, उसका बोध कराने वाला नैगम नय है। उन्होंने नैगम के दो भेद किये—देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी।

आचार्य सिद्धसेन ने नैगम नय को स्वीकृति नहीं दी, षड्नयवाद का निरूपण किया। नंदीचूर्णिकार ने अभेदग्राही नैगम को संग्रह नय में और भेदग्राही नैगम का व्यवहार नय में समावेश किया। आचार्य विद्यानन्दि ने इस समावेश को स्वीकृति नहीं दी—'संग्रहे व्यवहारे वा नान्तर्भावः समीक्ष्यते।' संग्रहनय केवल सामान्य का ग्राही है और व्यवहारनय केवल विशेष का, जबकि नैगमनय सामान्य और विशेष—दोनों की एकाश्रयता का साधक है, मुख्य-गौण भाव से दोनों का युगपत् ग्रहण करता है।

अनुयोगद्वार में वक्तव्यता पद (सूत्र 609) में नैगम व व्यवहार नय का उल्लेख है। संग्रह नय सामान्यग्राही नैगम के अन्तर्गत विवक्षित है अतः उसका स्वतंत्र उल्लेख नहीं किया गया है—यह मलधारी हेमचन्द्र का अभिमत है। (अनुयोगद्वारवृत्ति, पत्र 225)

नैगमनय का विषय है सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ, अतः यह अर्थनय है। इसके तीन प्रकार हैं—

द्रव्य नैगम—दो धर्मियों का ग्रहण।

पर्याय नैगम—दो धर्मों का ग्रहण।

द्रव्यपर्याय नैगम—धर्मी और धर्म का ग्रहण।

विद्यानन्दि ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में इसके नौ भेद किये हैं—1. शुद्ध द्रव्य नैगम, 2. अशुद्ध द्रव्य नैगम 3. अर्थपर्याय नैगम, 4. व्यंजन पर्याय नैगम 5. उभयपर्याय नैगम 6. शुद्ध द्रव्य-अर्थपर्याय नैगम 7. शुद्ध द्रव्य-व्यंजन पर्याय नैगम 8. अशुद्ध द्रव्य अर्थ पर्याय नैगम 9. अशुद्ध द्रव्य-व्यंजनपर्याय नैगम।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निगम का एक अर्थ है संकल्प। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि आदि में नैगम नय को संकल्पग्राही कहा गया है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि में संकल्प के स्थान पर विकल्प शब्द का प्रयोग भी हुआ है। संकल्पग्राही होने के कारण नैगम नय ज्ञाननय है। नयचक्र, द्रव्यानुयोग तर्कणा आदि में इसके तीन भेद किये गये हैं—भूत नैगम, वर्तमान नैगम, भावी नैगम।

अनुयोगद्वार के प्रस्थक दृष्टान्त में नैगम के तीन भेदों का उल्लेख है—अविशुद्ध, विशुद्ध और विशुद्धतर।

नयचक्र में अप्रस्थक को प्रस्थक कहने वाले को भावी नैगम का विषय बताया गया है।

विशेषावश्यकभाष्य में नैगमनय के प्रसंग में तीन दृष्टान्त प्रयुक्त हैं—निलयन, प्रस्थक और ग्राम।

अनुयोगद्वार वृत्ति में हरिभद्र ने द्रव्यार्थिक नय के दो भेद किये हैं—1. अविशुद्ध नय—नैगम और व्यवहार नय। 2. विशुद्ध नय—संग्रह नय।

इस प्रकार नैगम नय का क्षेत्र व्यापक है और लोक व्यवहार में इसकी सर्वाधिक उपयोगिता है। उमास्वाति ने इसे व्यवहारी भी कहा है।

संग्रह नय के दो भेद किये गये—

परसंग्रह—महासामान्य।

अपरसंग्रह—अवान्तर सामान्य।

अनुयोगद्वार के अनुसार सब द्रव्यों में विनिश्चित अर्थ का अध्यवसाय व्यवहार नय है। विशेषावश्यक भाष्य वृत्तिकार ने विनिश्चित शब्द का अर्थ 'विशेष' किया है—निश्चयं सामान्यं विगतो निश्चयो विनिश्चय: सामान्याभाव:।

भेदग्राही व्यवहार नय को उमास्वाति ने लौकिकसम और लोकोपचारनियत कहा है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार इस व्यवहार नय का अर्थ उपचार या स्थूलदृष्टि नहीं है। व्यवहार का अर्थ है विभाग। सातों नय निश्चय नय के भेद हैं।

नैगम, संग्रह, व्यवहार—ये द्रव्यार्थिक नय हैं। ऋजुसूत्र के विषय में दो अवधारणाएं हैं—द्रव्यार्थिक नय चारों निक्षेपों को मान्य करता है, पर्यायार्थिक नय केवल भावनिक्षेप को स्वीकृति देता है। अनुयोगद्वार (सूत्र 14) में 'आवश्यक' पद पर निक्षेप और नय दृष्टि से विचार किया गया है। वहां ऋजुसूत्र की अपेक्षा एक अनुपयुक्त व्यक्ति को द्रव्य आवश्यक कहा गया है।

आचार्य सिद्धसेन ने ऋजुसूत्र को पर्यायार्थिक नय की सीमा में ग्रहण किया है। उन्होंने नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप को द्रव्यार्थिक नय का और भाव निक्षेप को पर्यायार्थिक नय का विषय बताया है। जिनभद्रगणी के अनुसार ऋजुसूत्र नय नाम आदि निक्षेपों को मान्य करता है।

एक ही नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—दोनों कैसे? सापेक्ष दृष्टि से विचार करने पर दोनों अवधारणाओं की सत्यता सिद्ध हो जाती है। एक में द्रव्य की गौणता और दूसरी में पर्याय की प्रधानता है। धवला में ऋजुसूत्र के दो भेद प्रज्ञप्त हैं—शुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध ऋजुसूत्र एक क्षणवर्ती अर्थपर्याय को और अशुद्ध ऋजुसूत्र अनेकक्षणवर्ती व्यंजनपर्याय को ग्रहण करता है। अत: द्रव्य निक्षेप भी इसका विषय बन जाता है। नयचक्र: आलापपद्धति और द्रव्यानुयोगतर्कणा में ऋजुसूत्र के दो भेद किये गये हैं—सूक्ष्म ऋजुसूत्र और स्थूलऋजुसूत्र।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उत्तराध्ययन निर्युक्ति में ऋजुसूत्र की कालमर्यादा अन्तर्मुहूर्त्त बतायी गई है। धवला के अनुसार शुद्ध ऋजुसूत्र का कालमान एक समय है। अशुद्ध ऋजुसूत्र का कालमान जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त तथा उत्कृष्ट छहमास अथवा संख्यात वर्ष है—यह कथन चक्षुग्राह्यव्यंजनपर्याय की अपेक्षा से है।

ग्राह्य-ग्राहक भाव, विशेष्य-विशेषण भाव आदि को ऋजुसूत्र मान्य नहीं करता। इसके अनुसार वर्ण आदि पर्याय द्रव्य में नहीं रहते। इस संदर्भ में अकलंक ने काले कौए का उदाहरण दिया है—कौआ काला है और कौआ कौआ है। यदि काले रंग को कौआ माना जाए तो भौंरे आदि को भी कौआ मानना होगा। यदि काला रंग कौए का स्वरूप हो तो कौए के मांस, रक्त, पित्त को भी काला मानना होगा।

दो पर्यायों और सम्बन्धों को भी यह नय मान्य नहीं करता। यदि ऐसा है तो लोक व्यवहार का लोप हो जाएगा—इसका समाधान करते हुए पूज्यपाद ने लिखा है—'सर्वनयसमूहसाध्यो हि लोकसंव्यवहारः'—व्यवहार सब नयों के समूह से सिद्ध होता है।

14.9 नयमार्ग में नया प्रस्थान

नयदृष्टि के विकासक्रम में मल्लवादी का अपूर्व योगदान है। उन्होंने अपने समय (वि. की पांचवीं शती ई. पू. 599)में समुपलब्ध सभी दार्शनिक मन्तव्यों का विभिन्न नयों के रूप में विश्लेषण किया है। उनकी दृष्टि में परमत ही नय हैं। उन्होंने सब मतों के गुण-दोषों की तटस्थ भाव से समीक्षा-परीक्षा कर जैनदर्शन की सर्वनयमयता और अनेकान्त दर्शन की सर्वश्रेष्ठता निपुणता से प्रस्थापित की है।

"विधिनियमभंगवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत्।
जैनादन्यच्छाशनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम्॥"

इस गाथा के आधार पर उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना की है और इसे पूर्व से उद्धृत बताया है। वे अपने ग्रन्थ को पूर्वसिन्धु के नयप्राभृततरंग का बिन्दुमात्र मानते हैं। इसमें नयों को एक चक्र के रूपक से समझाया गया है। चक्र के बारह अर होते हैं। मल्लवादी ने आगमविश्रुत सात नयों से हटकर नय के बारह विकल्प प्रस्तुत किये हैं। 'द्वादशारनयचक्र' में बारह नय ये हैं—

1. विधि
2. विधि-विधि
3. विधि-उभय (विधि-विधि और नियम)
4. विधि नियम
5. विधि और नियम
6. विधिनियम-विधि
7. विधि-नियम के विधि-नियम (उभयोभय)
8. विधि-नियम के नियम (उभयनियम)
9. नियम
10. नियम-विधि
11. नियम का विधि-नियम (नियमोभय)
12. नियम-नियम।

ये सभी नय रूपी अर अनेकान्त रूपी नाभि में संलग्न हैं।

इन प्रथम छह भंगों का द्रव्यार्थिक नय में और शेष छह भंगों का पर्यायार्थिक नय में समावेश किया गया है। सात नयों के साथ भी इन भंगों की सम्बन्ध-योजना की गई है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बारह भंग	सात नय
प्रथम भंग	व्यवहार नय
द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ भंग	संग्रह नय
पंचम-षष्ठ भंग	नैगम नय
सप्तम भंग	ऋजुसूत्र नय
अष्टम-नवम भंग	शब्द नय
दशम भंग	समभिरूढ़ नय
एकादश-द्वादश भंग	एवंभूत नय

14.10 नय और प्रमाण

अनेकान्त के दो सक्षम आयाम हैं—प्रमाण (स्याद्वाद) और नय। जैन तार्किकों ने प्रमाण और नय के द्वारा प्रमेय की व्यवस्था की। एक धर्म की व्याख्या-पद्धति को नय तथा एक धर्म के माध्यम से अखण्ड वस्तु की व्याख्या पद्धति को स्याद्वाद कहा जाता है। नय विकलादेश और प्रमाण सकलादेश है।

आगम युग में पंचविध ज्ञान को ही प्रमाण माना जाता था। अनेकान्त और स्याद्वाद के लिए नयों का प्रयोग होता था। दार्शनिक युग में प्रमाणव्यवस्था प्रारम्भ हुई, वह समय की मांग थी। आर्यरक्षित ने अनुयोगद्वारसूत्र का प्रारम्भ पंचविध ज्ञान के सूत्र से किया और प्रमाण की चर्चा ज्ञानगुणप्रमाण के अन्तर्गत की। वहां प्रमाण शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है। भाव से वस्तु की प्रमिति की जाती है इसलिए भाव को प्रमाण कहा गया है और भावप्रमाण के एक 'भेद के रूप में' नय प्रमाण का उल्लेख है। समवाओ (प्रकीर्णक समवाय, सूत्र 93) के अनुसार "व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) में अनुगम-निक्षेप-नय-प्रमाण-उपक्रम आदि विविध प्रश्नोत्तरों का प्रतिपादन हुआ है।" इस प्रसंग में और अनुयोगद्वार में प्रयुक्त नय प्रमाण शब्द से संभावना की जा सकती है कि उस समय नय प्रमाण रूप में मान्य था। उत्तराध्ययन में प्रमाण और नय दोनों का उल्लेख है—

"दव्वाण सव्वभावा सव्वपमाणेहि जस्स उवलद्धा।
सव्वाहि नयविहीहि य वित्थाररुइत्ति नायव्वो॥" **(उत्तरा. 28/24)**

'जिसे द्रव्यों के सब भाव, सभी प्रमाणों और सभी नयविधियों से उपलब्ध हैं, वह विस्ताररुचि है।'

बहुत संभव है कि वाचक उमास्वाति ने इसी आधार पर 'प्रमाणनयैरधिगमः' इस सूत्र की रचना की हो। उन्होंने प्रमाण और नय की स्वतंत्र व्याख्या की। आचार्य समंतभद्र ने कहा—स्याद्वाद (प्रमाण) के द्वारा ज्ञात अखण्ड वस्तु के खण्ड-खण्ड का अध्यवसाय नय है।

दर्शन युग में एक समस्या ने जन्म लिया कि नय को प्रमाण माना जाये या अप्रमाण? बहुश्रुत आचार्यों ने इस समस्या को यों सुलझाया कि नय वस्तुखण्ड का यथार्थ ग्रहण करता है, इसलिए अप्रमाण नहीं है, अखण्ड को ग्रहण नहीं करता इसलिए प्रमाण नहीं है किन्तु प्रमाणांश है। जैसे कि घड़े में भरे हुए जल को समुद्र नहीं कहा जा सकता, असमुद्र भी नहीं कहा जा सकता, समुद्रांश कहा जा सकता है।

समीक्षात्मक समन्वय पद्धति के पुरस्कर्त्ता आचार्य सिद्धसेन ने 'सन्मतितर्क' में नयवाद का विशद निरूपण किया। उन्होंने जैन परम्परा में प्रमाण व्यवस्था का भी सूत्रपात किया। उनका न्यायावतार ग्रन्थ प्रमाण का आद्य ग्रन्थ माना जाता है। अकलंक प्रमाण व्यवस्था के विकास पुरुष थे। लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह आदि ग्रन्थों के माध्यम से उन्होंने प्रमाण व्यवस्था की नींव डाली और नयवाद को नये संदर्भ दिये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

14.11 नय और स्यात् पद

वचनात्मक नय को नयवाक्य या सद्वाद कहा जाता है। भगवती आदि में नयवाक्यों के साथ स्यात् (सिय) पद का प्रयोग हुआ है। आचार्य समन्तभद्र ने स्वयंभूस्तोत्र में स्यात् शब्द से लांछित नय को इष्ट फलदायी कहा है। मल्लिषेण और मलयगिरि के अनुसार स्यात् शब्द जुड़ते ही नयवाक्य प्रमाणवाक्य बन जाता है। प्रमाण सर्वनयात्मक है। आचार्य अकलंक ने प्रमाण वाक्य और नयवाक्य दोनों में स्यात् शब्द का प्रयोग किया है—

प्रमाण वाक्य—स्यात् जीव एव।

नयवाक्य—स्यात् अस्ति एव जीवः।

हेमचन्द्र ने नय के लिए सत् शब्द का प्रयोग किया है—

"सदेव सत् स्यात् सदिति त्रिधार्थो,
मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः।"

सत् एव—यह दुर्नय है, सत् नय है और स्यात् सत् प्रमाण है।

आचार्य सिद्धसेन आदि ने नय के तीन भंग माने हैं—अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य। आचार्य अकलंक आदि ने नय की सप्तभंगी को स्वीकृति दी है।

विशेषावश्यक भाष्य (गाथा 227) और तिलोयपण्णत्ती (1/82) में नय-प्रमाण का मूल्यांकन इस भाव भाषा में किया गया है—

"जो निक्षेप, नय और प्रमाण से विधिपूर्वक अर्थ की समीक्षा-परीक्षा नहीं करता, उसे अयुक्त, युक्त और युक्तअयुक्त प्रतीत होता है।"

नयविशारद व्यक्ति अपने विषय में प्रयुक्त नय को सत्य जानता है, दूसरे के द्वारा प्रयुक्त नय से पराङ्मुख होता है (उसका निराकरण या स्थापन नहीं करता)। इसीलिए वह ज्ञेय में संमूढ़ नहीं होता और न सिद्धान्तों की आशातना करता है।

14.12 नय और समन्वय

ईसा पूर्व तीसरी शती में 'दृष्टिवाद' आगम प्रायः लुप्त हो गया। उसके बचे हुए कुछ अंशों के आधार पर आचार्य समन्तभद्र और आचार्य सिद्धसेन ने विविध नयों से विविध दर्शनों में समन्वय स्थापित किया। समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा' में सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य, भाव-अभाव आदि विरोधी वादों में सप्तभंगी की योजना कर समन्वय की पृष्ठभूमि तैयार की।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने 'सन्मति प्रकरण' में परदर्शनों की नयों से तुलना की, सापेक्ष दृष्टि से समन्वय स्थापित किया। सांख्य दर्शन का द्रव्यार्थिक नय में और बौद्ध दर्शन का पर्यायार्थिक नय में समावेश किया। जैनदर्शन को मिथ्यादर्शनों का समूह बताया। उनकी दृष्टि में सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं, यदि वे निरपेक्षता से अपने पक्ष को प्रस्तुत करते हैं, एक-दूसरे से सापेक्ष होते ही सभी नय सम्यग् बन जाते हैं।

सन्मतितर्कप्रकरण की रचना ने एक बार पुनः नयवाद के विकास की नई दिशाएं खोल दी। 'जितने वचनपथ हैं, उतने नयवाद हैं, और उतने ही परसमय हैं'—सिद्धसेन के इस उदार दृष्टिकोण के आधार पर जैन आचार्यों ने नयपरम्परा को बहुत विकसित किया। जिनभद्रगणी तो समन्वय के शिखर तक पहुंच गये—'जितने भी परदर्शन हैं, वे सम्यक्त्वी के उपकारी हैं, इसलिए वे स्वदर्शन ही हैं—

"मिच्छत्तसमूहमयं सम्मत्तं जं च तदुवगारम्मि।
वट्टत्ति परसिद्धंतो तस्स तओ ससिद्धंतो॥" (विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 949)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपाध्याय यशोविजयजी ने बौद्धों के ऋजुसूत्र नय, वेदांत और सांख्य के संग्रह नय, न्याय-वैशेषिक के नैगम नय शब्दाद्वैतवाद के शब्द नय को सापेक्ष दृष्टि से ग्रहण कर जैनदर्शन को सर्वसंग्रही दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया।

मल्लिषेण ने व्यवहारनयाभास के उदाहरण के रूप में चार्वाकमत को प्रस्तुत किया है। (स्याद्वाद मंजरी, पृष्ठ 317)

इस समन्वयपरक दृष्टि की व्यापकता ने ही संभवतः एक नई समस्या को जन्म दिया। कुछ विद्वान् जैनदर्शन को मिथ्यादर्शनों का समवाय मात्र समझने लगे। विभिन्न नयों को विभिन्न मतों का संकलन मानने लगे। जैनदर्शन की स्वतंत्र और मौलिक आधारभित्ति को न समझने के कारण ऐसा हुआ। जब अन्य सब दर्शन मिथ्या हैं तो उनका संग्रही दर्शन सम्यक् कैसे हो सकता है? यह प्रश्न भी यत्र-तत्र उभरने लगा। तत्त्वार्थभाष्य और आप्तमीमांसा में इनका तृप्तिदायक समाधान सन्निहित है—

"विभिन्न नय विभिन्न दर्शनों के अभ्युपगमों का संकलन नहीं है और न ही स्वेच्छा से उत्पन्न किये गये पक्षग्राही विकल्प हैं। ये नय अनंतधर्मात्मक ज्ञेय पदार्थ के विषय में होने वाले विभिन्न अध्यवसाय हैं।" (तत्त्वार्थभाष्य, 1/35)

मिथ्या का समूह मिथ्या ही होगा। नय मिथ्या नहीं है, वे निरपेक्ष हैं, इसलिए मिथ्या हैं। वे सापेक्ष या समुदित होते ही वास्तविक हो जाते हैं। (आप्तमीमांसा, श्लोक 108)

सब नय समुदित होकर ही पूर्ण बनते हैं। अनेकान्त का स्वरूप यही है। महावीर ने आग्रहमुक्त शैली प्रदान की, इसीलिए गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी ने अपनी गीतिका में लिखा है-

"आग्रहहीन गहन चिन्तन का द्वार हमेशा खुला रहे।
कण-कण में आदर्श तुम्हारा पय-मिश्री ज्यों घुला रहे॥"

14.13 नय का कार्य

नय के दो कार्य हैं—अर्थ का बोध और अर्थ का प्रतिपादन। आचार्य विद्यानन्दि ने अर्थ प्रतिपादन की अपेक्षा से सब नयों को शब्दनय और अर्थ बोध की अपेक्षा से सब नयों को ज्ञाननय कहा है।

आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं—'नय ज्ञानात्मक हैं। उनका काम ज्ञेय का निर्माण करना नहीं किन्तु ज्ञेय को यथार्थरूप में जानना और निरूपित करना है। सत्य नयों के आधार पर विभक्त नहीं है किन्तु नय वास्तविकताओं के आधार पर विभक्त हैं। ..... नयों की योजना का मूल आधार द्रव्य का मौलिक रूप और उसका पर्यायसमूह है। ये नय न तो दूसरों के मतों का संकलन हैं और न ऐच्छिक विकल्प।' (जैन न्याय का विकास, पृष्ठ 63-65)

14.14 सारांश

नय की तीन निष्पत्तियां हैं—हेय का हान, उपादेय का उपादान और उपेक्षणीय की उपेक्षा। अनुयोगद्वार, आवश्यकनिर्युक्ति आदि में ज्ञाननय और क्रियानय के माध्यम से सोदाहरण दर्शाया गया है।

"अर्थ को भलीभांति जान लेने पर उपादेय के ग्रहण और हेय के अग्रहण में प्रयत्न करना चाहिये—यह ज्ञानप्रधान उपदेश ज्ञान नय है। सभी नयों की अनेक प्रकार की वक्तव्यता सुनकर जो चारित्र और क्षमा आदि गुणों में स्थित है, साधु है, वह सर्वनयसम्मत होता है।" (अणुओगदाराइं 715/5, 6)

जैन शासन में नयवाद के विकास की परम्परा अविच्छिन्न रूप से गतिशील है। समय-समय पर जैन आचार्यों की जागृत प्रज्ञा ने इसमें नये संदर्भ जोड़े हैं। निम्न ग्रन्थों की नय विवेचन और नयविकास में अहं भूमिका रही है—तत्त्वार्थभाष्य, आप्तमीमांसा, सन्मतितर्कप्रकरण, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, धवला,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रमाणनयतत्त्वालोक, सर्वार्थसिद्धि, नयचक्र, द्रव्यानुयोगतर्कणा, श्रीभिक्षुन्यायकर्णिका, जैनदर्शन : मनन और मीमांसा, जैन न्याय का विकास आदि।

14.15 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. नय विकास के नये आयामों की चर्चा करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. भगवान् महावीर की प्रतिपादन शैली क्या थी?
2. नय के भेद-प्रभेद बतायें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

रिक्त स्थनों की पूर्ति करें—

1. नय का उद्भव क्षेत्र है ....।
2. अनेकान्त के दो आयाम हैं ....।
3. .... ने कहा—परदर्शन स्वदर्शन ही है।
4. नय के दो कार्य हैं— 1. .... 2. ....।
5. नय की ...... निष्पत्तियां हैं।
6. .... में प्रमाण व्यवस्था प्रारम्भ हुई।
7. द्वादशार नयचक्र में चौथा भंग .... है।
8. सातवां भंग .... नय है।
9. देश परिक्षेपी .... नय का भेद है।
10. .... में नैगम नय के नौ भेद हैं।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–5 : निक्षेप विचार

इकाई–15 : निक्षेप का उद्भव, विकास और स्वरूप

संरचना

15.0 प्रस्तावना
15.1 उद्देश्य
15.2 निक्षेप का उद्भव
15.3 निक्षेप का विकासक्रम
15.4 निक्षेप की आवश्यकता
15.5 निक्षेप की परिभाषा
15.6 निक्षेप का लाभ
15.7 निक्षेप के भेद
15.8 नाम–निक्षेप
15.9 स्थापना निक्षेप
15.10 द्रव्य निक्षेप
15.11 भाव निक्षेप
15.12 नय और निक्षेप का सम्बन्ध
15.13 निक्षेप का आधार
15.14 सारांश
15.15 अभ्यास प्रश्नावली

15.0 प्रस्तावना

प्रमाण एवं नय के द्वारा वस्तु तत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है। वस्तु का सम्यक् अवबोध प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम उस वस्तु का नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव रूप में निक्षेपण/स्थापन किया जाता है। नाम, स्थापना आदि में वस्तु को स्थापित कर देने से उस वस्तु का ज्ञान करना सुगम हो जाता है। इस तथ्य को हम उदाहरण से समझ सकते हैं।

1. यथा—किसी भी पदार्थ का कोई न कोई नाम अवश्य होगा। एक पदार्थ विशेष का नाम 'घट' रख दिया यह उस वस्तु का नाम निक्षेप है।
2. पदार्थ का आकाराश्रित व्यवहार स्थापना निक्षेप है। जैसे घट के चित्र को 'घट' कहना यह घट का स्थापना निक्षेप है। किसी पदार्थ विशेष में यह स्थापित कर देना कि यह 'अमुक' है। जैसे किसी कौड़ी, लकड़ी आदि को कहना यह घट है। स्थापना भी दो प्रकार की होती है। घट की आकृति वाली वस्तु को घट कहना सद्भाव स्थापना है तथा लकड़ी, पत्थर आदि घट से असदृश आकार वाले पदार्थ को घट कहना असद्भाव स्थापना है।
3. पदार्थ की अतीत एवं अनागत में 'अमुक' शब्द का प्रयोग करना द्रव्य निक्षेप है। जैसे—घट की पूर्व मिट्टी को घट कहना अथवा घट की उत्तर पर्याय कपाल को घट कहना द्रव्यघट निक्षेप है।
4. विवक्षित कार्यापन्न पदार्थ के लिए उस शब्द विशेष का प्रयोग करना भाव निक्षेप है। जैसे जल आदि लाने की क्रिया में प्रयुक्त अर्थ को ही घट कहना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

'यह घट है'—इस वाक्य की व्याख्या में कम से कम चार प्रश्न उपस्थित होते हैं। यह घट किं रूप है—किसी का नाम घट है उसको यहां घट कहा जा रहा है अथवा किसी पदार्थ विशेष में घट की स्थापना करके उसे घट कह रहे हो अथवा जो वास्तविक घट है उसकी पूर्व या उत्तर पर्याय को घट कह रहे हो या जो पदार्थ वर्तमान में जल आदि लाने के काम में आ रहा है उस पदार्थ को घट कह रहे हो।

घट शब्द का प्रयोग इन विभिन्न परिस्थितियों में हुआ है। इन सारी परिस्थितियों में प्रयुक्त शब्द का किस संदर्भ में प्रस्तुत प्रकरण में प्रयोग हुआ है इसका बोध निक्षेप के द्वारा होता है। सविशेषण शब्द प्रयोग के द्वारा निक्षेप प्रासंगिक अर्थ का ज्ञान करवा देता है। इस निक्षेप पद्धति का जैन साहित्य में बहुलता से प्रयोग हुआ है। निक्षेप जैन परम्परा की मौलिक अवधारणा है। जैनाचार्यों ने निक्षेप पद्धति का आविष्कार क्यों किया? इसके प्रादुर्भाव की पृष्ठभूमि में क्या कारण मौजूद थे? निक्षेप के विचार का विकास किस तरह हुआ? निक्षेप का स्वरूप, परिभाषा, भेद, उसके लाभ क्या हैं? इत्यादि निक्षेप सिद्धान्त से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर इस पाठ में चर्चा की जायेगी।

15.1 उद्देश्य

निक्षेप का अर्थ है स्थापन या स्थापित करना। इस शब्द का प्रयोग भूगोल की शब्दावली में भी प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ है नरियाँ या वायु एक स्थान से दूसरे स्थान में पदार्थ को लेकर के निक्षेपित करते है। हम प्रस्तुत पाठ में निक्षेप के रहस्य को समझने का प्रयास करेंगे।

15.2 निक्षेप का उद्भव

द्रव्य अनन्तपर्यायात्मक होता है। उन अनन्त पर्यायों को जानने के लिए अनन्त शब्द आवश्यक है। शब्दकोश में शब्द बहुत सीमित हैं। हम संकेतविधि के अनुसार एक शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पाठक अथवा श्रोता विवक्षित अर्थ को पकड़ नहीं पाता है, फलतः अनिर्णय की स्थिति बन जाती है। उस अनिर्णय की स्थिति का निराकरण करने के लिए जैनाचार्यों ने निक्षेप विधि का आविष्कार किया। निक्षेप का उद्भव व्यवहार की सम्यक् संयोजना के लिए हुआ। व्यवहार की सम्यक् योजना करने के लिए जिस पद्धति का अनुसरण किया जाता है उसको निक्षेप कहते हैं। निक्षेप का प्रयोजन है—वाक्य रचना का ऐसा विन्यास जिससे पाठक अथवा श्रोता विवक्षित अर्थ को ग्रहणकर सके। इसके लिए प्रत्येक पर्याय के लिए विशेषण युक्त वाक्य रचना अपेक्षित है। निक्षेप पद्धति में एक शब्द की अनेक संदर्भों में जानकारी मिलती है।

मनुष्य ज्ञाता है और पदार्थ ज्ञेय है। ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है? यह एक दार्शनिक प्रश्न है। इस प्रश्न को जैन दर्शन में निक्षेप पद्धति द्वारा सुलझाया गया है। हमारा ज्ञान परोक्ष है, इसलिए हम किसी भी वस्तु को सर्वात्मना साक्षात् नहीं जान सकते। हम उसे किसी माध्यम से ही जानते हैं। माध्यम के द्वारा ज्ञाता का ज्ञेय के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है। माध्यम की शृंखला में प्रमुख तत्त्व दो हैं—नाम और रूप। वस्तु का ज्ञाता के ज्ञान में अवतरण करने के लिए या तो वस्तु का नाम में निक्षेपण करना होता है अथवा किसी रूप या आकृति में।

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। हम उस अखण्ड वस्तु को नहीं जान सकते। उसे किसी एक पर्याय के माध्यम से जानते हैं। काल की दृष्टि से उसके तीन पर्याय हैं—भूतपर्याय, भावीपर्याय और वर्तमान पर्याय। भूतपर्याय एवं भावी पर्याय में भी वस्तु का उपचार या निक्षेपण किया जाता है। इन पर्यायों का सम्यक् ज्ञान करने के लिए विवक्षित वस्तु के पीछे विशेषण का प्रयोग किया जाता है जैसे—ज्ञशरीर द्रव्य और भावी शरीर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

द्रव्य। इन दोनों अवस्थाओं में चेतना की प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए ये पर्याय द्रव्य कहलाते हैं। जिस क्रिया के साथ चेतना जुड़ी रहती है उसे भाव कहा जाता है।

15.3 निक्षेप का विकास क्रम

क्षेत्र, काल आदि अनेक धर्म हैं। उनमें वस्तु का आरोपण किया जाता है। इसलिए निक्षेप अनेक बनते हैं। वस्तु के आन्तरिक और बाह्य जितने धर्म हैं उतने ही निक्षेप हो सकते हैं। इसलिए सूत्रकार ने निक्षेप संख्यातीत बताये हैं। उत्तराध्ययन निर्युक्ति में 'उत्तर' शब्द के पन्द्रह निक्षेप किये गये हैं—

नामं ठवणा दविए खित्त दिसा तावखित्त पन्नवए।
पइकालसंचयपहाणनाणकमगणणओ भावे।।

आचारांगनिर्युक्ति में तथा कषायपाहुड़ में कषाय शब्द के आठ निक्षेप किये हैं—

णामं ठवणा दविए उप्पत्ती पच्चए य आएसो।
रसभावकसाए या तेण य कोहाइया चउरो।। आचारांगनिर्युक्ति, 190

कसाओ ताव णिक्खिवियव्वो णामकसाओ ठवणकसाओ
दव्वकसाओ पच्चयकसाओ समुत्पत्तिकसाओ आदेसकसाओ
रसकसाओ भावकसाओ चेदि। कषायपाहुड़ पृ.234

निक्षेप का वस्तु अवबोध में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस वस्तु में जितने निक्षेप किये जा सके उतने करने चाहिए किन्तु कम से कम चार निक्षेपों का प्रयोग अवश्य किया जाये। नाम और स्थापना के बिना वस्तु की पहचान नहीं होती। ये वस्तु की पहचान के प्रारम्भिक तत्त्व हैं। द्रव्य और भाव—ये दोनों वस्तु की अवस्थाएं हैं। वस्तु की जानकारी के लिए वर्तमान पर्याय में उसका निक्षेपण आवश्यक है। इस प्रकार नाम, रूप और अवस्था में वस्तु का निक्षेपण करना न्यूनतम अपेक्षा है। निक्षेप के इन चार प्रकारों का ही प्रयोग ग्रन्थों में बहुलतया उपलब्ध होता है।

जिनभद्रगणि ने एक ही वस्तु में चार पर्यायों की संयोजना की है—

अहवा वत्थूभिहाणं णामं ठवणा य जो तयागारो।
कारणया से दव्वं कज्जावन्नं तयं भावो।। विभा, 60

वस्तु का अपना अभिधान नाम निक्षेप है। वस्तु का अपना आकार स्थापना निक्षेप है। कार्यरूप में विद्यमान वस्तु भाव निक्षेप है। घड़े का 'घट' नाम नामनिक्षेप है। घट का पृथु, बुघ्न, उदर आकार है वह स्थापना निक्षेप है। मृत्तिका घट का अतीतकालीन पर्याय है, कपाल घट का भविष्यकालीन पर्याय है। ये दोनों पर्याय घट पर्याय से शून्य होने के कारण द्रव्य निक्षेप है। कार्यापन्न पर्याय अर्थात् घट रूप में परिणत पर्याय भाव निक्षेप है।

उत्तराध्ययन सूत्र की शान्त्याचार्यवृत्ति में कहा गया नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।इन चार निक्षेपों में सब निक्षेपों का समावेश हो जाता है। जहां कहीं इनसे अधिक निक्षेपों का प्रयोग होता है, उसके दो प्रयोजन हैं—

1. शिक्षार्थी की बुद्धि को व्युत्पन्न करना 2. सब वस्तुओं के सामान्य, विशेष और उभयात्मक अर्थ का प्रतिपादन करना।

नाम आदि निक्षेपों के माध्यम से शास्त्र का प्रतिपादन और ग्रहण सहज हो जाता है—

भण्णइ घिप्पइ य सुहं निक्खेव पयाणुसारओ सत्थं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

धवला में निक्षेप की उपयोगिता के चार कोण बतलाए हैं—

1. अव्युत्पन्न श्रोता यदि पर्यायार्थिक दृष्टि वाला है तो अप्रकृत अर्थ का निराकरण करने के लिए निक्षेप करना चाहिये।
2. यदि वह द्रव्यार्थिक दृष्टि वाला है तो प्रकृत अर्थ का निरूपण करने के लिए निक्षेप करना चाहिये।
3. यदि व्युत्पन्न होने पर भी संदिग्ध है तो उसके संदेह का निराकरण करने के लिए निक्षेप करना चाहिये।
4. यदि वह विर्यस्त है तो तत्त्वार्थ-निश्चय के लिए निक्षेप करना चाहिये।

अनुयोगद्वार सूत्र में सामायिक अध्ययन के चार अनुयोगद्वार बताये हैं—उपक्रम, निक्षेप अनुगम एवं नय। अनुयोग का अर्थ अध्ययन के अर्थ की प्रतिपादन पद्धति है अर्थात् सूत्र की व्याख्या-पद्धति को अनुयोग कहा जाता है। अनुयोग के चार द्वार होते हैं जिस नगर के द्वार नहीं होता वह नगर वास्तव में नगर ही नहीं होता। एक द्वार वाले नगर में जाना-आना कठिन होता है। कार्यसिद्धि में विलम्ब होता है। चार प्रवेश द्वार होने पर जाना-आना सरल हो जाता है, कार्य बेला का अतिक्रमण नहीं होता। वैसे ही व्याख्या के चार द्वार होने से सूत्र की जानकारी सुगम हो जाती है।

अनुयोगद्वारसूत्र में प्रथम उपक्रम द्वार की व्याख्या करते हुए उपक्रम के छह प्रकार बतलाये हैं—1. नाम उपक्रम 2. स्थापना उपक्रम 3. द्रव्य उपक्रम 4. क्षेत्र उपक्रम 5. काल उपक्रम और 6. भाव उपक्रम।

निक्षेप के विकासक्रम की दृष्टि से यह मननीय तथ्य है कि इसी सूत्र में आवश्यक, श्रुत एवं स्कन्ध इन शब्दों के चार-चार निक्षेप किये गये हैं जबकि सामायिक अध्ययन के चार अनुयोगद्वार बतलाकर प्रथम उपक्रम द्वार के छः भेद किये हैं। उनमें चार प्रकार तो वे ही हैं जो निक्षेप के हैं तथा क्षेत्र और काल ये दो अतिरिक्त हैं। एक विशेष बात यह भी है कि उपक्रम के भेदों की विवेचना निक्षेप जैसी ही है। यहां एक जिज्ञासा उठनी स्वाभाविक ही है कि जब अनुयोगद्वार के रूप में निक्षेप एवं उपक्रम को अलग-अलग द्वार माना गया है तब निक्षेप के भेदों को ही उपक्रम के भेद क्यों माना गया? तथा उस प्रसंग में निक्षेप की चर्चा भी क्यों नहीं है?

इसी सूत्र में प्रकारान्तर से उपक्रम के छः अन्य प्रकारों का भी उल्लेख है। उन छः प्रकारों में पहला प्रकार है—आनुपूर्वी। उस आनुपूर्वी के दश प्रकारों का वर्णन है। उन दश प्रकारों में चार तो वे ही नाम हैं जो निक्षेप के भेद हैं तथा उनकी व्याख्या भी निक्षेप जैसी ही है। इस सम्पूर्ण चर्चा से ऐसा प्रतीत होता है कि निक्षेप उपक्रम का ही एक प्रकार है जबकि ग्रन्थ में इसका उपक्रम की तरह ही पृथक् द्वार के रूप में उल्लेख किया है। अनुयोगद्वारसूत्र के अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि निक्षेप को व्याख्या का एक मुख्य द्वार माना है, उसका कुछ स्थानों पर पृथक् उल्लेख एवं वर्णन भी है किन्तु उपक्रम के प्रसंग में निक्षेप का उसमें ही अन्तर्भाव कर दिया है। जिससे प्रतीत होता है इस सूत्र रचना तक निक्षेप का स्वतंत्र एवं उपक्रम दोनों रूप से प्रयोग होता रहा है। यद्यपि इस सूत्र में उपक्रम के छः भेद हैं एवं उनके अनेक प्रभेद प्राप्त है जबकि निक्षेप के चार ही भेद उपलब्ध है तथा उनके अन्य प्रभेद भी उपलब्ध है। यह भी द्रष्टव्य है जहां निक्षेप के द्वारा आवश्यक आदि की स्वतंत्र व्याख्या की है वहां उपक्रम से व्याख्या नहीं की है तथा उपक्रम से जहां की है वहां निक्षेप का उसमें ही अन्तर्भाव कर दिया है। उत्तरकालीन ग्रन्थों में उपक्रम की अपेक्षा निक्षेप ही अधिक व्यवहृत हुआ है तथा निक्षेप के नाम, स्थापना आदि चार भेदों का ही मुख्यतया सभी आचार्यों ने प्रयोग किया है। निर्युक्ति साहित्य, अनुयोगद्वार एवं भाष्य आदि ग्रन्थों में जिस विस्तार से निक्षेप पद्धति का प्रयोग हुआ है, उनके परवर्ती ग्रन्थों में निक्षेप का वैसा विस्तार से उल्लेख नहीं हुआ है। निक्षेप को सीमित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कर दिया गया। एक समय में निक्षेप जैन आगमों के पढ़ने की विधि थी वर्तमान में वह स्वयं मात्र सिद्धान्त के रूप में पढ़ी जाती है। उस विधि से पढ़ने की परम्परा आज प्रचलित नहीं है।

जैन आगमों की व्याख्या के संदर्भ में निक्षेप पद्धति का बहुलता से प्रयोग हुआ है। अनुयोगद्वार सूत्र में 'आवश्यक' 'श्रुत', स्कन्ध आदि शब्द के अर्थ विमर्श के प्रसंग में निक्षेप का प्रयोग विस्तार से हुआ है। निक्षेप के द्वारा ग्रन्थकार प्रतिपाद्य विषय को अत्यन्त स्पष्ट कर देते हैं जिससे श्रोता या पाठक प्रतिपाद्य के हार्द को हृदयंगम करने में समर्थ हो जाता है। निक्षेप के भेद-प्रभेद एवं स्वरूप विमर्श के द्वारा यह तथ्य स्पष्ट हो जायेगा।

व्यवहार जगत् में भाषा की अनिवार्यता है। भाषा के अभाव में व्यवहार का संवहन दुष्कर है किन्तु भाषा की अपनी कुछ सीमाएं हैं, विवशताएं हैं फलस्वरूप वक्ता अपने अभिलषित को अभिव्य्जित करने में असमर्थता का अनुभव करता है। भाषा एवं वक्ता की इन समस्याओं का समाधान जैन परम्परा में निक्षेप-व्यवस्था के द्वारा करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया गया है।

वस्तु स्वरूपतः अनन्त धर्मात्मक है। उस अनन्त धर्मात्मक वस्तु का अवबोध प्रमाण एवं नय के द्वारा होता है। प्रमाण एवं नय के विषयभूत जीव आदि पदार्थों का नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव इन चार निक्षेपों से न्यास किया जाता है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया—**'नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः'** वस्तु के सम्यक् संबोध में प्रमाण, नय एवं निक्षेप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके बिना सम्यक् प्रमेय व्यवस्था हो ही नहीं सकती।

15.4 निक्षेप की आवश्यकता

व्यवहार जगत् में भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जहां परस्पर एक-दूसरे से संवाद स्थापित करना होता है वहां शब्द अत्यन्त अपेक्षित है ओर एक ही शब्द एकाधिक वस्तु एवं उनकी अवस्थाओं के ज्ञापक होने से उनके प्रयोग में भ्रम की स्थिति पैदा हो जाती है, वस्तु का यथार्थ बोध दुरूह हो जाता है। निक्षेप के द्वारा भाषा प्रयोग की उस दुरूहता का सरलीकरण हो जाता है। निक्षेप भाषा प्रयोग की निर्दोष प्रणाली है। निक्षेप के रूप में जैन परम्परा का भाषा जगत् को महत्त्वपूर्ण अवदान है।

15.5 निक्षेप की परिभाषा

ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि निक्षेप पद्धति का प्रयोग, निक्षेप शब्द का प्रयोग उसके भेद-प्रभेदों का उल्लेख भगवती, अनुयोगद्वार, निर्युक्ति साहित्य आदि में उपलब्ध है किन्तु निक्षेप की अर्थ मीमांसा, निर्वचन, परिभाषा आदि सर्वप्रथम विशेषावश्यक भाष्य में उपलब्ध है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण निक्षेप का निर्वचन करते हुए कहते हैं—

निक्खप्पइ तेण तहिं तओ व निक्खेवणं व निक्खेवो।
नियओ व निच्छिओ वा खेवो नासो त्ति जं भणियं।। **विभा., 912**

अर्थात् पद को निश्चित अर्थ में स्थापित करना—अमुक-अमुक अर्थ के लिए शब्द का निक्षेपण करना निक्षेप है। वह क्षेपण नियत या निश्चित होता है अतः उसे न्यास कहा जाता है।

अनुयोगद्वार चूर्णि में अर्थ की भिन्नता के विज्ञान को निक्षेप कहा है—**'निक्खेवो अत्थभेदन्यासः'।** भाष्यकार ने निक्षेप की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा—जिस वस्तु के नाम आदि भेदों में शब्द (वाचक) अर्थ (वाच्य) और बुद्धि (ज्ञान) इन तीनों की परिणति होती है, वह निक्षेप है। सम्पूर्ण वस्तुएं लोक में निश्चित ही नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार पर्यायों से युक्त हैं।

नामाइ भेयसद्दत्थबुद्धिपरिणमभावओ निययं।
जं वत्थुमत्थि लोए चउपज्जायं तयं सव्वं।। **विभा., 73**

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निक्षेप जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। निक्षेप का पर्यायवाची शब्द न्यास है जिसका प्रयोग तत्त्वार्थसूत्र में हुआ है। न्यासो निक्षेपः। निक्षेप की जैन ग्रन्थों में अनेक परिभाषाएं उपलब्ध हैं। वृहद् नयचक्र में निक्षेप को परिभाषित करते हुए कहा गया—

जुत्ती सुजुत्तमग्गे जं चउभेयेण होइ खलु ठवणं।
वज्जे सदि णामादिसु तं णिक्खेवं हवे समये।।

युक्तिपूर्वक प्रयोजन युक्त नाम आदि चार भेद से वस्तु को स्थापित करना निक्षेप है। धवला में निक्षेप को परिभाषित करते हुए कहा—**'संशयविपर्यये अनध्यवसाये वा स्थितस्तेभ्योऽपसार्य निश्चये क्षिपतीति निक्षेपः।'** संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय में स्थित वस्तु को उनसे हटाकर निश्चय में स्थापित करना निक्षेप है अर्थात् निक्षेप वस्तु को निश्चयात्मकता एवं निर्णायकता के साथ प्रस्तुत करता है। **जैनसिद्धान्तदीपिका** में भी यही भाव अभिव्यञ्जित है—**'शब्देषु विशेषणबलेन प्रतिनियतार्थ प्रतिपादनशक्तेर्निक्षेपणं निक्षेपः'** शब्दों में विशेषण के द्वारा प्रतिनियत अर्थ का प्रतिपादन करने की शक्ति निहित करने को निक्षेप कहा जाता है। निक्षेप पदार्थ और शब्द प्रयोग की संगति का सूत्रधार है। निक्षेप भाव और भाषा, वाच्य और वाचक की सम्बन्ध पद्धति है। संक्षेप में शब्द और अर्थ की प्रासंगिक सम्बन्ध संयोजना को निक्षेप कहा जा सकता है। निक्षेप के द्वारा पदार्थ की स्थिति के अनुरूप शब्द संयोजना का निर्देश प्राप्त होता है। निक्षेप सविशेषण, सुसम्बद्ध भाषा का प्रयोग है।

15.6 निक्षेप का लाभ

प्रत्येक शब्द में असंख्य अर्थों को द्योतित करने की शक्ति होती है। एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। वह अनेक वाच्यों का वाचक बन सकता है, ऐसी स्थिति में वस्तु के अवबोध में भ्रम हो सकता है। निक्षेप के द्वारा अप्रस्तुत अर्थ को दूर कर प्रस्तुत अर्थ का बोध कराया जाता है। अप्रस्तुत का अपाकरण एवं प्रस्तुत का प्रकटीकरण ही निक्षेप का फल है। **लघीयस्त्रयी** में यही भाव अभिव्यञ्जित हुए हैं—

'अप्रस्तुतार्थपाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान्।'

15.7 निक्षेप के भेद

पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है अतः विस्तार में जायें तो कहना होगा कि वस्तु विन्यास के जितने प्रकार हैं उतने ही निक्षेप के भेद हैं किन्तु संक्षेप में चार निक्षेपों का निर्देश प्राप्त होता है। अनुयोगद्वार में भी कहा गया है—

'जत्थ य जं जाणेज्जा निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं।
जत्थ वि य न जाणेज्जा चउक्कगं निक्खिवे तत्थ।।

जहां जितने निक्षेप ज्ञात हों वहां उन सभी का उपयोग किया जाये और जहां अधिक निक्षेप ज्ञात न हों वहां कम से कम नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव इन चार निक्षेपों का प्रयोग अवश्य करना चाहिये।

पदार्थ का कोई न कोई नाम तथा आकार होता है तथा उसे भूत, भावी एवं वर्तमान पर्याय हाते हैं अतः निक्षेप चतुष्टयी पदार्थ की स्वतः फलित होता है। पदार्थ के नाम के आधार पर नाम निक्षेप, आकार के आधार पर स्थापना, भूत, भावी पर्याय के आधार पर द्रव्य एवं वर्तमान पर्याय के आधार पर भाव निक्षेप का निर्धारण होता है। निक्षेप काल्पनिक नहीं है अपितु वस्तु के स्वरूप पर आधारित यथार्थ हैं। नाम आदि चारों निक्षेपों का संक्षिप्त विवेचन यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

15.8 नाम–निक्षेप

वस्तु का इच्छानुसार अभिधान किया जाता है, वह नाम निक्षेप है। नाम मूल अर्थ से सापेक्ष या निरपेक्ष दोनों प्रकार का हो सकता है, किन्तु जो नामकरण संकेतमात्र से होता है, जिसमें जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया, लक्षण आदि निमित्तों की अपेक्षा नहीं होती है वह नाम निक्षेप है। एक अनक्षर व्यक्ति का नाम अध्यापक रख दिया। एक गरीब का नाम लक्ष्मीपति रख दिया। अध्यापक और लक्ष्मीपति का जो अर्थ होना चाहिये वह उनमें नहीं मिलता इसलिए ये नाम निक्षिप्त कहलाते हैं। नाम निक्षेप में शब्द के अर्थ की अपेक्षा नहीं रहती है। जैन-सिद्धान्त-दीपिका में नाम निक्षेप को परिभाषित करते हुए कहा गया—**'तदर्थनिरपेक्षं संज्ञाकर्मनाम।'** मूल शब्द के अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले संज्ञाकरण को नाम निक्षेप कहाजाता है। जैसे—**'अनक्षरस्य उपाध्याय इति नाम।'** प्रत्येक अर्थवान् शब्द नाम कहलाता है। उसके द्वारा पदार्थ का ज्ञान होता है। पदार्थ और नाम में वाच्य वाचक सम्बन्ध होने के कारण प्रत्येक नाम निक्षेप बन जाता है। वस्तु का कोई भी नाम रखा जा सकता है। उस नाम के साथ अर्थ की संगति आवश्यक नहीं है। यह नाम विवक्षित अर्थ से निरपेक्ष हेने के कारण मूल अर्थ से उसका सीधा सम्बन्ध नहीं होता है। नाम किसी एक संकेत के आधार पर किया जाता है इसलिए इसका कोई पर्यायवाची शब्द नहीं होता है। नामकरण करने में मूल अर्थ की अपेक्षा न हो फिर भी वैसा नामकरण किया जा सकता है इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर जिनभद्रगणि ने नाम को यादृच्छिक बतलाया है।

15.9 स्थापना–निक्षेप

पदार्थ का आकाराश्रित व्यवहार स्थापना निक्षेप है। मूल अर्थ से शून्य वस्तु को उसी अभिप्राय से स्थापित करने को स्थापना निक्षेप कहा जाता है—'तदर्थशून्यस्य तदभिप्रायेण प्रतिष्ठापनं स्थापना।' अर्थात् जो अर्थ तद्रूप नहीं है उसको तद्रूप मान लेना स्थापना निक्षेप है। जैसे—उपाध्यायप्रतिकृतिः स्थापनोपाध्यायः।'

स्थापना सद्भाव एवं असद्भाव के भेद से दो प्रकार की होती है अतः स्थापना निक्षेप भी दो प्रकार का हो जाता है।

1. **सद्भाव स्थापना**—एक व्यक्ति अपने गुरु के चित्र को गुरु मानता है। यह सद्भाव स्थापना है—**'मुख्याकारसमाना सद्भावस्थापना।'**
2. **असद्भाव स्थापना**—एक व्यक्ति ने शंख आदि में अपने गुरु का आरोप कर लिया, यह असद्भाव स्थापना है। **'तदाकारशून्या चासद्भावस्थापना।'**

पदार्थ का नामकरण करने के पश्चात् 'यह वही है'—इस अभिप्राय से उसकी व्यवस्थापना करने का अर्थ है—स्थापना। न्यायकुमुदचन्द्र में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है कि—**"स्थाप्यते इति स्थापना प्रतिकृतिः, सा च आहितनामकस्य अध्यारोपितनामकस्य द्रव्यस्य इन्द्रादेः 'सोऽयम' इत्यभिसंधानेन व्यवस्थापना"**

विवक्षित अर्थ से शून्य आकृति को उस अभिप्राय से स्थापित करना स्थापना है। स्थापना निक्षेप में विवक्षित अर्थ को सदृश और असदृश दोनों प्रकार की आकृतियों में स्थापित किया जा सकता है। अनुयोगद्वार में सदृश आकृतियों के लिए काष्ठकर्म आदि का उल्लेख हुआ है। मनुष्य, पशु या किसी अन्य वस्तु की काष्ठ निर्मित आकृति का नाम काष्ठकर्म है। काष्ठ की प्रतिमा शिल्प के वैशिष्ट्य से यथार्थ जैसी दिखाई देती है। इनको सद्भाव स्थापना कहा जाता है। असदृश आकृतियों के लिए अक्ष, वराटक आदि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। पासों और कौड़ियों को भी प्रतीक मानकर स्थापित करने की परम्परा रही है। इसी कारण स्थापना आवश्यक के वर्णन में अनुयोगद्वार में काष्ठकर्म आदि की तरह अक्ष का भी ग्रहण हुआ है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रश्न हो सकता है कि प्रतीक तो कोई भी वस्तु बन सकती है फिर अक्ष आदि का ही उल्लेख क्यों? इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि शंख, कौड़ा, आदि वस्तुओं को लौकिक दृष्टि से मंगल माना जाता है। मांगलिक वस्तुओं को प्रतीक बनाने से मानसिक तुष्टि भी रहती है इसलिए असद्भाव स्थापना के उदाहरण इनका उल्लेख होता रहा है।

नयचक्र में स्थापना के दो अन्य प्रकार निर्दिष्ट हैं—साकार और निराकार। प्रतिमा में अर्हत् की स्थापना साकार स्थापना है तथा केवलज्ञान आदि क्षायिक गुणों में अर्हत् की स्थापना करना निराकार स्थापना है—

"सायार इयर ठवणाा कित्तिम इयरा हु बिंबजा पढमा।

इयरा खाइय यणिया ठवणा अरिहो य णायव्वो।। **नयचक्र, 274**

नाम और स्थापना दोनों ही वास्तविक नहीं है फिर इन दोनों में क्या अन्तर है? आचार्य हरिभद्र ने इनमें कालकृत भेद माना है। नाम तब तक रहता है, जब तक उससे सम्बद्ध द्रव्य का अस्तित्व है। स्थापना अल्पकालिक भी होती है और द्रव्य के अस्तित्व के साथ जुड़ी हुयी भी है। आज जो अक्ष आवश्यक क्रिया करते हुए साधु के लिए स्थापित हो सकता है कालान्तर में वह अन्य किसी के लिए भी हो सकता है। जबकि नाम में इस प्रकार का बदलाव नहीं होता। दूसरा कारण यह भी है कि नाम निराकार होता है पर स्थापना में कोई न कोई आकार होता है।

नाम और स्थापना की चर्चा में एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि स्थापना की भांति नाम भी परिवर्तित हो सकता है फिर इसे यावज्जीवन क्यों माना गया? नाम के दो रूप हैं—नक्षत्र के आधार पर निर्धारित नाम और बोलचाल का नाम। नक्षत्र से सम्बन्धित नाम अपरिवर्तनीय होता है। व्यक्ति के जीवन की अनेक बातों का निर्णय इसी नाम के आधार पर किया जाता है। जो नाम बदल जाता है वह उपनाम होता है। कुछ व्यक्तियों के नाम एक से अधिक होते हैं। आगमों में भगवान् महावीर के अनेक नामों का उल्लेख है। यहां उपनामों और पर्यायवाची नामों की विवक्षा नहीं है।

अनुयोगद्वार का मन्तव्य है कि नाम यावत्कथिक अर्थात् स्थायी होता है। स्थापना अल्पकालिक एवं स्थायी दोनों प्रकार की होती है। विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार नाम मूल अर्थ से निरपेक्ष और यादृच्छिक अर्थात् इच्छानुसार संकेतित होता है। स्थापना मूल पदार्थ के अभिप्राय से आरोपित होती है।

मलधारी हेमचन्द्र के अनुसार मेरु, द्वीप, समुद्र आदि के नाम यावत् द्रव्यभावी होते हैं। देवदत्त आदि के नामों का परिवर्तन भी होता है।

नाम और स्थापना दोनों वास्तविक अर्थ से शून्य होते हैं। नाम और स्थापना में एक अन्तर यह भी है कि जिसकी स्थापना होती है उसका नाम अवश्य होता है किन्तु नाम निक्षिप्त की स्थापना होना आवश्यक नहीं है।

15.10 द्रव्य निक्षेप

पदार्थ को भूत एवं भावी पर्यायाश्रित व्यवहार तथा अनुयोग अवस्थागत व्यवहार द्रव्य निक्षेप है—**"भूतभाविकारणस्य अनुपयोगो वा द्रव्यम्"** अतीत-अवस्था, भविष्य-अवस्था एवं अनुपयोग दशा—ये तीनों विवक्षित क्रिया में परिणत नहीं होते हैं, इसलिए इनहें द्रव्य निक्षेप कहा जाता है।

जो व्यक्ति पहले उपाध्याय रह चुका है अथवा भविष्य में उपाध्याय बनने वाला है, वह द्रव्य उपाध्याय है। अनुपयोग दशा में की जाने वाली क्रिया भी द्रव्यक्रिया है। द्रव्य शब्द प्रयोग अप्रधान अर्थ में भी होता है, जैसे—आचार गुण शून्य होने से अंगारमर्दक को द्रव्याचार्य कहा जाता है।

अनुयोगद्वार में द्रव्य निक्षेप के दो प्रकार बताए गये हैं—आगमत: एवं नो आगमत:।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

15.10.1 आगमतः द्रव्य निक्षेप—'जीवादिपदार्थज्ञोऽपि तत्राऽनुपयुक्तः।' कोई व्यक्ति जीव विषयक अथवा अन्य किसी वस्तु का ज्ञाता है किन्तु वर्तमान में उस उपयोग से रहित है उसे आगमतः द्रव्य निक्षेप कहा जाता है।

15.10.2 नोआगमतः द्रव्य निक्षेप—आगम द्रव्य की आत्मा का उसके शरीर में आरोप करके उस जीव के शरीर को ही ज्ञाता कहना नोआगमतः द्रव्यनिक्षेप है।

आगमतः द्रव्यनिक्षेप में उपयोग रूप ज्ञान नहीं होता किन्तु लब्धि रूप में ज्ञान का अस्तित्व रहता है किन्तु नो आगमतः में लब्धि एवं उपयोग उभय रूप से ही ज्ञान का अभाव रहता है।

नोआगमतः द्रव्य निक्षेप मुख्यरूप से तीन प्रकार का है—1. ज्ञशरीर 2. भव्यशरीर एवं 3. तद्व्यतिरिक्त। इनके भेद-प्रभेद अनेक हैं।

1. **ज्ञशरीर**—जिस शरीर में रहकर आत्मा जानता देखता था वह ज्ञशरीर है। जैसे—आवश्यकसूत्र के ज्ञाता की मृत्यु हो जाने के बाद भी पड़े हुए शरीर को देखकर कहना यह आवश्यकसूत्र का ज्ञाता है।
2. **भव्यशरीर**—जिस शरीर में रहकर आत्मा भविष्य में ज्ञान करने वाली होगी वह भव्यशरीर है। जैसे—जन्मजात बच्चे को कहना यह आवश्यकसूत्र का ज्ञाता है।
3. **तद्व्यतिरिक्त**—वस्तु की उपकारक सामग्री में वस्तुवाची शब्द का व्यवहार किया जाता है, यह तद्व्यतिरिक्त है। जैसे—अध्यापन के समय होने वाली हस्त संकेत आदि क्रिया को अध्यापक कहना। लौकिक, कुप्रावचनिक एवं लोकोत्तर के भेद से यह तीन प्रकार का है।

तद्व्यतिरिक्त का लौकिक, कुप्रावचनिक एवं लोकोत्तर यह सापेक्ष वर्गीकरण है। इसमें आवश्यक क्रिया करने वाले व्यक्तियों को तीन वर्गों में संगृहीत किया गया है। प्रथम वर्ग लौकिक या सामाजिक है। शेष दो वर्ग धर्म की आराधना करने वाले व्यक्तियों के हैं। जैन दृष्टि से एकान्तवाद को कुप्रवचन माना जाता है। जितनी भी एकान्तवादी विचारधारा है वह जैन दृष्टि के अनुसार 'कुप्रावचनिक' इस वर्गीकरण में समाहित है। लोकोत्तर वर्ग में मात्र अनेकान्त प्रवचन का संग्रह होता है।

द्रव्य निक्षेप तत्पर्याय परिणत और तत्पदार्थोपयुक्त नहीं होता है इसलिए वह वर्तमान पर्याय से शून्य एवं ज्ञान पर्याय से शून्य है। द्रव्य शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जिसमें भूतकालीन पर्याय की योग्यता थी, भविष्यकालीन पर्याय की योग्यता होगी, उसका नाम है द्रव्य। उदाहरणस्वरूप जिस घट में घी था और वर्तमान में वह खाली है वह भूतकालीन पर्याय की अपेक्षा घृतघट है। जो भविष्य में घृत का आधार बनेगा, अभी खाली है, वह भविष्यकालीन पर्याय की अपेक्षा घृतघट है।

द्रव्य निक्षेप के आगमतः (ज्ञानात्मक) पक्ष पर सात नयों से विचार किया गया है। नैगम नय का विषय सामान्य और विशेष दोनों हैं इसलिए उसके अनुसार द्रव्यावश्यक एक, दो, तीन यावत् लाख करोड़ कितने ही हो सकते हैं। जितने अनुपयुक्त हैं वे सब द्रव्यावश्यक हैं। व्यवहार नय का विषय है विशेष अथवा भेद। यह नय लोक व्यवहार को मान्य करता है इसलिए इसमें भी नैगम नय की भांति द्रव्यावश्यक की संख्या का निर्देश किया जा सकता है। संग्रह नय का विषय है—सामान्य। इससलिए उसमें द्रव्यावश्यक का राशिकरण हो सकता है जैसे एक द्रव्यावश्यक और अनेक द्रव्यावश्यकों की राशि अर्थात् संग्रह नय के अनुसार अनेक का अस्तित्व ही नहीं है वह एक को ही स्वीकार करता है, अनेक होंगे वहां पर भी उनको समूह रूप में एक ही स्वीकार करेगा अतः संग्रह नय के अनुसार द्रव्यावश्यक एक ही होगा। ऋजुसूत्र नय का विषय है—पर्याय। इसलिए उसके अनुसार एक अनुपयुक्त व्यक्ति आगमतः द्रव्यावश्यक है, बहुवचन इसे मान्य नहीं है। तीनों शब्द

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नयों का विषय है—शब्द। उनके अनुसार कोई व्यक्ति जानता है और उपयुक्त नहीं है—ऐसा हो नहीं सकता। अतः इन तीनों नयों को आगमतः द्रव्यावश्यक मान्य नहीं है।

उपर्युक्त विषय 'अनुयोगद्वार सूत्र' में विवेचित हुआ है। वहां 'आवश्यक' शब्द के नाम, स्थापना आदि चार निक्षेप किये हैं। आवश्यक की आगमतः द्रव्य निक्षेप के संदर्भ में चर्चा करते हुए वहां पर द्रव्यावश्यक की नैगम आदि सात नयों के सात संयोजना की है जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। संक्षेप में हम इस प्रकार समझ सकते हैं।

आवश्यक शब्द का द्रव्य निक्षेप = द्रव्यावश्यक।

1. नैगम नय सामान्य-विशेषग्राही है अतः इस नय की अपेक्षा द्रव्यावश्यक अनेक हैं।
2. व्यवहार नय भेदग्राही है अतः इसकी अपेक्षा भी द्रव्यावश्यक अनेक हैं।
3. संग्रह अभेदग्राही है अतः इसकी अपेक्षा द्रव्यावश्यक एक है।
4. ऋजुसूत्र नय वर्तमान पर्यायग्राही है अतः इसकी अपेक्षा एक अनुपयुक्त व्यक्ति आगमतः द्रव्यावश्यक है, बहुवचन इसे मान्य नहीं है।

   संग्रहनय में द्रव्य की अपेक्षा से एकत्व का ग्रहण है ऋजुसूत्र के अनुसार पर्याय एक क्षण में एक ही होती है इस अपेक्षा से एक द्रव्यावश्यक मान्य है।
5. शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत इन तीनों नय का मन्तव्य है कि जो जानता है वह उपयुक्त भी होता है। जो व्यक्ति जानता है और उपयुक्त नहीं हो ऐसा हो ही नहीं सकता। अतः ये तीनों आगमतः द्रव्यावश्यक के अस्तित्व को ही मान्य नहीं करते हैं।

15.11 भाव निक्षेप

पदार्थ का वर्तमान पर्यायाश्रित व्यवहार भाव निक्षेप है। **'विवक्षितक्रिया परिणतो भाव'** विवक्षित क्रिया में परिणत वस्तु को भाव निक्षेप कहा जाता है। जैसे स्वर्ग के देवों को देव कहना। भाव निक्षेप भी आगमतः नोआगमतः के भेद से दो प्रकार का है।

15.11.1 आगमतः—उपाध्याय के अर्थ को जानने वाला तथा उस अनुभव में परिणत व्यक्ति को आगमतः भाव उपाध्याय कहा जाता है।

15.11.2 नोआगमतः—उपाध्याय के अर्थ को जानने वाले तथा अध्यापन क्रिया में प्रवृत्त व्यक्ति को नोआगमतः भाव उपाध्याय कहा जाता है।

वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य भाव कहलाता है। भाव निक्षेप पर भी आगम और नोआगम इन दो दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। जो 'आवश्यक' को जानता है उसमें उपयुक्त है वह ज्ञानात्मक पर्याय की अपेक्षा भाव आवश्यक है। इसी प्रकार जो मंगल शब्द के अर्थ को जानता है तथा उसके अर्थ में उपयुक्त है वह ज्ञानात्मक पर्याय की अपेक्षा भाव मंगल है। इस विमर्श के अनुसार घट शब्द के अर्थ को जानने वाला और उसमें उपयुक्त पुरुष भाव घट कहलाता है।

घट पदार्थ का ज्ञाता एवं उपयुक्त पुरुष भी भाव घट है तथा घट नाम का पदार्थ जो जल आहरण आदि क्रिया कर रहा है वह भी भावघट है।

चारों ही निक्षेपों को संक्षेप में व्याख्यायित करते हुए कहा है—

"नाम जिणा जिन नामा ठवणजिणा हुंति पडिमाओ।
दव्वजिणा जिन जीवा भाव जिणा समवसरणत्था।।"

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

15.12 नय और निक्षेप का सम्बन्ध

नय और निक्षेप का विषय-विषयी सम्बन्ध है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने इनके सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कहा है कि— **"नामं ठवणा दविए त्ति एस दव्वट्ठियस्स निक्खेवो।**
भावो उ पज्जवट्ठिअस्स परुवणा एस परमत्थो।।"

नाम स्थापना एवं द्रव्य का सम्बन्ध तीन काल से है अतः इसका सम्बन्ध द्रव्यर्थिक नय से है तथा भाव-निक्षेप मात्र वर्तमान से सम्बन्धित है। अतः यह पर्यायार्थिक नय का विषय है।

15.13 निक्षेप का आधार

निक्षेप का आधार प्रधान-अप्रधान, कल्पित और अकल्पि दृष्टि बिन्दु है। भाव अकल्पित दृष्टि है, इसलिए प्रधान होता है शेष तीन निक्षेप कल्पित है। अतः वे अप्रधान है। नाम में पहचान, स्थापना में आकार की भावना होती है। गुण की वृत्ति नहीं होती। द्रव्य मूल वस्तु की पूर्वोत्तर दशा या उससे सम्बन्ध रखने वाली अन्य वस्तु होती है अतः इसमें मौलिकता नहीं होती। भाव मौलिक है।

15.14 सारांश

निक्षेप पद्धति जैन आगम एवं व्याख्या ग्रन्थों की मुख्य पद्धति रही है। अनुयोग परम्परा में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्पूर्ण व्यवहार का कारण निक्षेप पद्धति है। निक्षेप के अभाव में अर्थ का अनर्थ हो जाता है। संक्षेप में निक्षेप पद्धति भाषा प्रयोग की वह विधा है जिसके द्वारा हम वस्तु का अभ्रान्तज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

15.15 अभ्यास प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. निक्षेप को परिभाषित करते हुए उसके भेद-प्रभेदों का विवेचन करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. निक्षेप के उद्‌भव एवं विकास की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करें।
2. निक्षेप करने का उद्देश्य क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. उत्तराध्ययन निर्युक्ति में 'उत्तर' शब्द के निक्षेप किये हैं—
   क. दश   ख. बारह   ग. पन्द्रह   घ. आठ
2. निक्षेप पद्धति में …….. अनेक संदर्भों में जानकारी मिलती है।
3. चार से अधिक निक्षेपों के प्रयोग का प्रयोजन …… व्युत्पन्न करना है।
4. उपक्रम के ………. भेद होते हैं।
5. निक्षेप को ………. भी कहते हैं।
6. पदार्थ और नाम में …….. सम्बन्ध होता है।
7. मूल शब्द के अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले …….. नाम निक्षेप कहते हैं।
8. गुरु के चित्र को गुरु मानना …….. है।
9. आगमतः द्रव्य निक्षेप में उपयोगरूप ज्ञान नहीं होता किन्तु …….. रहता है।
10. नैगम नय के अनुसार द्रव्यावश्यक …… हो सकते हैं।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर—

1. पन्द्रह   2. शब्द की   3. शिक्षार्थी की बुद्धि को   4. छह   5. न्यास
6. वाच्य-वाचक   7. संज्ञाकरण को   8. सद्‌भाव स्थापना 9. लब्धि रूप में ज्ञान   10. अनेक।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun